भारतीय दर्शन का इतिहास

(Bhartiya Darshan ka Itihas)

भाग–५

लेखक

डॉ० एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

सुश्री पी० मिश्रा

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम अनुदित संस्करण : १९७५

मूल्य : १०.००

प्रकाशक :

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर
जयपुर–३०२००४

मुद्रक :

शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर

प्रस्तावना

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अब तक हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के लगभग १५० पाठ्य और सन्दर्भ ग्रन्थ प्रस्तुत कर चुकी है। अधिकांश में समीक्षकों ने इन ग्रन्थों की पर्याप्त प्रशंसा की है। इससे हमारा कृतार्थ अनुभव करना स्वाभाविक ही है, यद्यपि हम अपनी उन त्रुटियों के सम्बन्ध में भी, जो हमारे प्रयत्नों के बावजूद रह गयी हैं, अवगत हैं।

दासगुप्ता का "भारतीय दर्शन का इतिहास" एक ऐसा संदर्भ है जो वर्षों पुराना होने पर भी आज तक बराबर अद्वितीय बना हुआ है। इसके पश्चात् भारतीय दर्शन के इतिहास पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, उनमें कुछ बहुत अच्छे भी हैं, किन्तु पाण्डित्य की जो महिमा हमें इस ग्रन्थ में देखने को मिलती है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। भारतीय दर्शन के स्रोत-ग्रन्थ के रूप में इसका महत्त्व आज तक अद्वितीय बना हुआ है।

भारतीय दर्शन एक अत्यधिक विशिष्ट अनुभव-गम्भीर और विचार-परिप्लुत दर्शन है। दुर्भाग्यवश विगत पाँच-छः शताब्दियों से इसकी धारा निरंतर क्षीण होती चली गयी है। यद्यपि यह धारा लुप्त कभी भी नहीं हुई, किन्तु अंग्रेजी राज्य में हमारे अभिजात वर्गों के आंग्लोन्मुखी हो जाने के कारण इसका विकास प्रायः अवरुद्ध हो गया। इस वर्ग के लिए भारतीय दर्शन इतिहास का विषय हो गया। किन्तु तब भी, इतिहास अब एक मात्र कड़ी था जो कम से कम इस वर्ग के लिए वर्तमान को अतीत से जोड़े रख रहा था। यह स्थिति आज भी समाप्त नहीं हुई है। इसलिए ऐसे ग्रन्थ का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने के पश्चात् ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद नितांत आवश्यक था। यद्यपि अपेक्षित यह है कि हिन्दी में इससे भी उच्च कोटि का एक मौलिक इतिहास-ग्रन्थ लिखा जाय जो इस ग्रन्थ के अनुकरणीय पाण्डित्य के साथ हमारी भारतीय दर्शन विषयक विकसित अन्तर्दृष्टि को समन्वित करे।

खेतसिंह राठौड़
शिक्षा मंत्री, राजस्थान सरकार एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर

शिवनाथसिंह
निदेशक

विषय-सूची

अध्याय–३४

दक्षिणी शैव मत का साहित्य

अध्याय–३५

वीर शैव मत

अध्याय–३६

श्रीकंठ का दर्शन

अध्याय–३७

पुराणों में शैव-दर्शन

अध्याय–३८

शैव-दर्शन के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

——∞——

अध्याय ३४

दक्षिणी शैव मत का साहित्य

दक्षिणी शैव मत का साहित्य तथा इतिहास

संस्कृत के दर्शन-साहित्य में शैव मत का सर्वप्रथम उल्लेख हमें शंकराचार्य (आठवीं शताब्दी) के ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर एक भाष्य में मिलता है। इस सूत्र पर अपनी टीका में शंकर ने "सिद्धान्त" नामक ग्रंथों के मतों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये भगवान महेश्वर द्वारा लिखे गये थे। श्रुति की शिक्षाओं की विलक्षणता यह है कि उन्होंने ईश्वर को संसार का निमित्त कारण ही माना है। शंकर ने इसमें तथा अन्य स्थानों में इस विचारधारा के समर्थकों को ईश्वर कारणीन कहा है। विभिन्न सिद्धान्त-संप्रदायों के अनुसार यदि शिव अथवा ईश्वर संसार के निमित्त तथा उपादान कारण दोनों ही समझे जाते तब उपर्युक्त सूत्र की प्रस्तावना का कोई अर्थ ही नहीं होता, क्योंकि शंकर के मतानुसार भी ईश्वर संसार का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर का संकेत यहां पाशुपत प्रणाली के लिए है जो पांच पदार्थो; जैसे, कारण, कार्य, योग, विधि तथा दुखान्त का निरूपण करता है।[1] उनके अनुसार इस प्रणाली का भी यह मत है कि पशुपति (ईश्वर) संसार का निमित्त कारण है। इस मतानुसार नैयायिक तथा वैशेषिक भी ईश्वर के लिए कारणता का उसी प्रकार का सम्बन्ध बताते हैं तथा उसी प्रकार के तर्क उपस्थित करते हैं जैसे कि कारण का कार्य से अनुमान।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०) शंकर के भाष्य पर अपनी टीका में कहते हैं कि महेश्वर में शैव, पाशुपत, कारुणिक सिद्धान्तिक तथा कापालिक सम्मिलित हैं। चौदहवीं शताब्दी के माधव ने शैवों का वर्णन नकुलीष पाशुपत के रूप में किया है जो अन्य स्थानों में लाकुलीष पाशुपत अथवा लकुलीष पाशुपत वर्णित है तथा उनकी व्याख्या प्रस्तुत रचना के अन्य भागों में की जा चुकी है। माधव ने शैव दर्शन का भी वर्णन किया है जिसमें उन्होंने शैवागम तथा उसके समान साहित्य में प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों को निर्धारित किया है। इसके अतिरिक्त उनका एक प्रकरण प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर भी है जो कि सामान्यत: काश्मीर शैव मत कहलाता है। इस प्रणाली का निरूपण प्रस्तुत भाग में भी किया जायगा। वाचस्पति कारुणिक-सिद्धान्तियों तथा कापालिकों का

---

[1] इस प्रणाली की रूपरेखा पहले ही अन्य भाग में पाशुपत शास्त्र के अन्तर्गत आ चुकी है।

उल्लेख करते हैं। रामानुज ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर अपने भाष्य में कापालिक तथा कालमुख के नाम का वर्णन वेद-विरोधी (चरित्र) शैव-पंथी के रूप में करते हैं। किन्तु कठिन प्रयत्नों के उपरान्त भी, मैं ऐसा कोई प्रकाशित अथवा अप्रकाशित मूल ग्रन्थ खोजने में असमर्थ रहा हूँ जिसमें उनकी विचार प्रणालियों के विशेष लक्षणों का वर्णन है। कापालिक के विषय में कुछ उल्लेख हमें साहित्य में, जैसे भवभूति (ई० ७००-८००) के मालती माधव तथा पुराणों में भी मिलते हैं। शंकर के समकालीन तथा जीवनी लेखक, आनन्दगिरि, शैवों के विभिन्न पंथों के साथ-साथ उनके शरीर पर विभिन्न चिह्नों तथा लक्षणों एवं परस्पर विभिन्नता लाने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख करते हैं। उन्होंने कापालिकों के दो सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है, एक ब्राह्मणीय तथा दूसरा अब्राह्मणीय। अथर्ववेद में हम व्रात्यों के विषय में भी सुनते हैं जो रुद्र के भक्त थे। स्पष्ट है कि व्रात्य जाति-नियम तथा आचार नहीं मानते थे। किन्तु इसके अतिरिक्त, अथर्ववेद के व्रात्य माननीय समझे जाते थे। किन्तु कापालिक, चाहे वे ब्राह्मणीय हों अथवा अब्राह्मणीय, मद्यपान तथा कामवासना की भयकर क्रियाओं में लिप्त रहते थे एवं अशुद्ध रीति से जीवन व्यतीत करते थे। वे संहारकर्ता भैरव के पुजारी थे, जिसने संसार की रचना की और पालन किया, इस मान्यता के अतिरिक्त उनका कोई विशेष दर्शन था, यह संदेहात्मक है। वे कर्म में विश्वास नहीं करते थे। उनके विचारानुसार गौण देवता भी हैं जो भैरव की इच्छानुसार संसार की सृष्टि तथा पालन में विभिन्न कार्य करते हैं। शूद्र कापालिक जाति प्रथा में भी विश्वास नहीं करते थे तथा यह सब कापालिक अपनी धार्मिक क्रियाओं के अंग के रूप में मांस खाते तथा नरमुंड में मद्यपान करते थे। सर आर० जी० भण्डारकर शिव महापुराण के आधार पर यह मानते हैं कि कालमुख तथा महाव्रतधर एक ही थे। किन्तु प्रस्तुत लेखक को ऐसा कोई लेख शिव पुराण में नहीं मिल सका है तथा भण्डारकर कोई निश्चित उद्धरण नहीं बताते जिससे यह एकता (कालमुख और महाव्रतधर एक हैं) सिद्ध होती हो। महाव्रत अर्थात् महान प्रतिज्ञा में नरमुंड में भोजन किया जाता है तथा शरीर पर मानव तथा अन्य शवों की भस्म मली जाती है, जिसे रामानुज ने कालमुखों के लिए विशेषित किया है। भण्डारकर ने जगधर की मालती माधव पर टीका का भी उल्लेख किया है, जिसमें कापालिक व्रत महाव्रत कहा गया है। भण्डारकर आगे यह भी इंगित करते हैं कि नासिक के पास कापालेश्वर के मन्दिर में रहने वाले योगी महाव्रती कहलाते हैं।[1] जो भी हो, हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि कापालिकों तथा कालमुखों के कोई विशिष्ट दार्शनिक विचार थे जिनकी अलग से व्याख्या की जा सके। विशेष प्रकार के अनुष्ठान करते समय उनके

---

[1] सर आर० जी० भण्डारकर कृत 'वैष्णव मत, शैव मत तथा गौण धार्मिक प्रणालियां' (१९१३) पृ० १२८।

पंथों के सदस्य अपने को घायल कर लेते थे तथा मद्य, स्त्री व मांस में,यहां तक कि नर-मांस में भी, अपनी लिप्सा के कारण ये अन्य शैवों से पृथक् किए जा सकते थे। किसी प्रकार यह क्रियायें तांत्रिक पद्धति की पूजा में मिल गई। इस प्रकार की पूजा के कुछ अंश तांत्रिक पद्धति की पूजा के अनुयायियों में आज भी मिलते हैं। इस प्रकार तांत्रिक दीक्षा वैदिक दीक्षा से भिन्न है।

धर्म तथा नीतिशास्त्र के विश्वकोश में शैव मत पर फ्रेजर अपने लेख में लिखते हैं कि दक्षिण भारत के कुछ प्रसिद्ध मन्दिरों में आदिवासी पुजारियों से समझौते के लिए (जिनके प्राचीन देवस्थान स्थानीय भावकों के संरक्षण में ब्राह्मण पुजारियों ने अधिकृत कर लिए थे) पुरातन रक्त-क्रियाओं तथा उन्मत्त प्रमादों के पुनरुत्थान की अनुमति प्रतिवर्ष दी जाती है। इन भावकों ने अपने अनुग्रह तथा कृपादृष्टि के बदले में क्षत्रियों की प्रतिष्ठा मिथ्या वंशावली के साथ हड़प ली थी। फ्रेजर इसी लेख में आगे कुछ दृष्टान्त देते हैं जिनमें अब्राह्मण तथा अछूतों ने शिव की पूजा की और नर-बलि दी। एक स्थान जिसका उन्होंने वर्णन किया है "श्री शैल" है, इस कापालिक केन्द्र का भवभूति ने भी उल्लेख किया है। बौद्धों ने इन अछूत पुजारियों को मन्दिरों से बहिष्कृत कर दिया, तदुपरान्त ब्राह्मणों ने बौद्धों को बहिष्कृत किया। शंकर के समय में कापालिकों ने उज्जैन में एक प्रबल केन्द्र विकसित कर लिया था। वास्तव में हम नहीं जानते कि ब्राह्मणों तथा अब्राह्मणों द्वारा की गई दक्षिण भारतीय रक्त-क्रियाओं के पंथ का कापालिकों अथवा कालमुखों से देखा जा सकता है या नहीं। किन्तु यह संभव है कि वे एक ही लोग थे, क्योंकि भवभूति द्वारा वर्णित श्री शैल, जो कापालिकों के एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में वर्णित है, उसे हम, जैसा कि फ्रेजर ने लिखा है, स्थल-माहात्म्य के लेखों से रक्त क्रियाओं के केन्द्र के रूप में भी जानते हैं। ब्रह्म सूत्र २-२-३७ में रामानुज के कथनानुसार कापालिक तथा कालमुख वेद-विरोधी थे। आनन्द गिरि के अनुसार, शंकर ने भी कापालिकों से कोई तर्क वितर्क नहीं किया क्योंकि कापालिकों के विचार स्वीकृत रूप से वेद-विरोधी थे। उन्होंने तो उनको दंडित करवाया तथा कोड़े लगवाए। फिर भी कापालिकों ने अपना प्राचीन रूप बनाए रखा तथा उनमें से कुछ बंगाल तक में रहते थे जैसाकि प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है। शैव मत में शरीर पर भस्म मलने की प्रथा संभवतः बहुत प्राचीन है, क्योंकि यह प्रथा पाशुपत सूत्र तथा कौडिन्य के भाष्य में वर्णित है।

वाचस्पति द्वारा वर्णित कारुणी सिद्धान्त का माधव (१४ वीं शताब्दी) ने अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में उल्लेख नहीं किया है, तथा किन्हीं शैवागमों में भी हमें इसका उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु, जैसाकि अन्य भाग में उल्लेख किया गया है, शिव महापुराण की वायवीय संहिता में शैव दर्शन के वर्णन से उन तर्कों की रचना करना हमारे लिए कठिन नहीं है जिन्होंने शैव मत के एक विशेष सम्प्रदाय को बनाने में योग

दिया हो। प्रत्येक आगम में करुणा का सिद्धान्त सदा एक ही अर्थ में नहीं मिलता है, न वायवीय संहिता में, जो संभवतः आगमों पर आधारित है। साधारणतः करुणा की भावना का अर्थ केवल दया के विस्तार से होता है या किसी विपद्ग्रस्त पर अनुग्रह से। किन्तु शैवागम में एक स्पष्ट विचारधारा है जहां करुणा की व्याख्या सब जीवों को अनुभव-क्षेत्र प्रदान करने वाली दैवी सृजनात्मक प्रेरणा के रूप में की गई है, जिसमें वे सुखों का आनन्द ले सकें तथा उसी प्रकार दुःखानुभव कर सकें। ईश्वर की करुणा संसार को हमारे लिए उसी प्रकार अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार हमें उसका अनुभव करना चाहिए। इसलिए सामान्य अर्थ में, करुणा अनुग्रह का कार्य नहीं है वरन् यह कर्म के आधार पर हमें उचित कामनाओं को प्राप्त करने की ओर एक प्रेरणा है। संसार की सृजनात्मक क्रिया हमारे शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुरूप होती है जिनके अनुसार भिन्न प्रकार के अनुभव हमारे लिए अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ में करुणा की तुलना योग दर्शन के उस विचार से की जा सकती है जो स्वीकार करता है कि ईश्वर का नित्य संकल्प सृष्टि-विकास (परिणाम-क्रम-नियम) के क्रम में संसार की रक्षा के लिए तथा मनुष्यों के व्यक्तिगत कर्मों के अनुरूप उनके अनुभव के लिये आधार के रूप में कार्य करता है। पुनः यह उन रामानुज वैष्णवों के करुणा के सिद्धान्त से भिन्न है जिन्होंने महालक्ष्मी का प्रत्यय उपस्थित किया एवं जो पापियों की ओर से मध्यस्थता करती है तथा नारायण को, भक्तों के श्रेय के लिए उनकी करुणा प्रदान करने हेतु विवश करती है।

माना जाता है कि 'शिव' शब्द अनियमित रूप से मूल 'वप कान्तन' से निकला है। इसका यह अर्थ होगा कि शिव सदैव अपने भक्तों की कामनाओं की पूर्ति करते हैं। महाभारत तथा अन्य पुराणों में शिव का पक्ष कृपालु भगवान के रूप में बहुत भली प्रकार चित्रित किया गया है जिसमें वह सदैव उन वरदानों को देने के लिए तत्पर रहते हैं जिनके लिए उनसे प्रार्थना की जाय। शिव का यह पक्ष उस पक्ष से भिन्न है जिसमें शिव, रुद्र अथवा शर्व या संहार के देवता हैं।

हमने देखा कि कापालिकों तथा कालमुखों के विषय में हम लगभग कुछ भी महत्वपूर्ण बात नहीं जानते हैं। दक्षिण के शैवमत के अन्य सिद्धान्त पाशुपत के हैं जो शैव सिद्धान्त आगमों तथा वैष्णवों से प्राप्त किए हुए हैं। नवीं व दसवीं शताब्दी में काश्मीर में विकसित शैव मत के अन्य सम्प्रदायों का विवरण अलग भाग में किया जायेगा। कौंडिन्य के 'पंचार्थ भाष्य' के साथ पाशुपत-सूत्र प्रथम बार १९४० में त्रिवेन्द्रम में प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन अनन्त कृष्ण शास्त्री ने किया था। कौंडिन्य का यह भाष्य संभवतः राशीकर भाष्य ही है जिसका माधव ने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में नकुलीष-पाशुपत दर्शन की अपनी व्याख्या में उल्लेख किया है। कौडिन्य के भाष्य में प्राप्त कुछ पंक्तियों की समानता प्रस्तुत लेखक ने उन पंक्तियों से मानी है

जिनको माधव ने अपनी नकुलीष-पाशुपत प्रणाली की व्याख्या में राशीकर की ठहराया है। नकुलीष पाशुपत प्रणाली के स्थापक हैं। आउफ्रेच्ट ने पाशुपत-सूत्र[1] का कैटेलागस कैटेलागरम में वर्णन किया है। वायवीय संहिता २-२४-१६९ भी पाशुपत-शास्त्र का वर्णन पंचार्थ विद्या के रूप में करती है।[2] भण्डारकर ने जयपुर राज्य के सीकर प्रदेश में स्थित हर्षनाथ के एक मन्दिर के शिलालेख की ओर इंगित किया है जिसमें विश्व रूप नामक व्यक्ति का वर्णन पंचार्थ लाकुला-काय के शिक्षक के रूप में किया है। शिलालेख का काल वि० सं० १०१३ (९५७ ई०) है। इससे भण्डारकर यह अनुमान लगाते हैं कि पाशुपत प्रणाली लकुलिन नामक मानव लेखक की ठहराई गई थी तथा उनकी रचनायें पंचार्थ कहलाती थी। यह अनुमान न्यायपूर्ण नहीं है। हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि दसवीं शताब्दी के मध्य में लकुलीष के सिद्धान्त विश्वरूप नामक शिक्षक द्वारा सिखाए जा रहे थे जिसकी जयपुर में यथेष्ठ प्रसिद्धि थी। लकुलीष की शिक्षाओं ने ऐसा अधि-कृत स्थान प्राप्त कर लिया था कि वे आम्नाय कहलाते थे; जिनका प्रयोग वेदों के लिए होता है।

त्रिवेन्द्रम ग्रन्थमाला में प्रकाशित पाशुपत-सूत्र में कौंडिन्य द्वारा उद्धृत प्रथम सूत्र है—अथात: पशुपते: पशुपतं योगविधिम् व्याख्यास्याम:। यहां पर 'योग-विधि' पाशुपत अथवा शिव के लिए प्रयुक्त की गई है। सूत संहिता ४-४३-१७ में हम नकुल नामक एक स्थान के विषय में सुनते हैं तथा वहां पर शिव को नकुलीष कहा जाता है। पाशुपत शास्त्र के सम्पादक ने अठारह शिक्षकों के नाम का उल्लेख किया है जिनका आरंभ नकुलीष[3] से है। यह नामों इस प्रकार हैं—(१) नकुलीष (२) कौशिक (३) गार्ग्य (४) मैत्रेय (५) कौरूष (६) ईशान (७) पर गार्ग्य (८) कपिलान्द (९) मनुष्यक (१०) कुपीक (११) अत्रि (१२) पिंगलाक्ष (१३) पुष्पक (१४) वृहदार्य (१५) अगस्ति (१६) सन्तान (१७) कौंडिन्य अथवा राशीकर (१८) विद्या गुरु। प्रस्तुत लेखक पाशुपत-सूत्र के सम्पादक के इस विचार से सहमत है कि भाष्य-कार कौंडिन्य चौथी से छठी शताब्दी में किसी समय वर्तमान थे। भाष्य का आकार

---

[1] भण्डारकर ने अपने पाशुपत के अध्याय में इसका उल्लेख किया है। पृ० १२१ एन०।

[2] वैंकटेश्वर प्रकाशन द्वारा मुद्रित शिव महापुराण संस्करण में प्रस्तुत लेखक को ऐसा कोई पद्य नहीं मिल सका क्योंकि २-२४ में केवल ४२ छन्द हैं।

[3] यह नाम राजशेखर के 'षड्दर्शन समुच्चय' से लिए गए हैं जिसकी रचना १४ वीं शताब्दी के मध्य में हुई थी। लगभग यही नाम कुछ अन्तर सहित गुणरत्न के 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में भी पाए जाते हैं।

यथेष्ठ प्राचीन है तथा कौंडिन्य के भाष्य में परवर्ती किसी विचारधारा के विषय में संकेत नहीं हैं। हमने पहले ही देखा है कि शिव-महापुराण के अनुसार अठाईस योगाचार्य थे और प्रत्येक के चार शिष्य थे। इस प्रकार ११२ योगाचार्य थे। इन अठाईस योगाचार्यों में से अत्यधिक मुख्य लोकाक्षी जैगीशव्य, ऋषभ, भृगु, अत्रि तथा गौतम थे। अन्तिम तथा अठाईसवें आचार्य नकुलीश थे, जिनका जन्म स्थान कायावतरण तीर्थ था। ११२ योगाचार्यों में से सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, पंचशिख, पराशर, गर्ग, भार्गव, अंगिर, शुक, वशिष्ट, बृहस्पति, कुणि, वामदेव, श्वेतकेतु, देवल, शालिहोत्र, अग्निवेश, अक्षपाद, कणाद, कुमार तथा गग अत्यधिक मुख्य है।[1]

श्री दलाल "गणकारिका" की अपनी भूमिका में कहते हैं कि लाकुलीश-पाशुपत दर्शन का नामकरण लकुलीश से हुआ जिन्होंने इस पद्धति का आरंभ किया। लकुलीश का अर्थ है "दंड धारियों के भगवान"। दाहिने हाथ में डमरु तथा बाएं हाथ में त्रिशूल लिए हुए लकुलीश बहुधा भगवान शिव का अवतार माने जाते हैं। अवतार का स्थान भृगु क्षेत्र में कायारोहण है जो बड़ोदा राज्य के डभोई तालुके का एक नगर कारवण है। कारवण-माहात्म्य में यह कहा गया है कि उलकापुरी गांव में एक ब्राह्मण पुत्र लकुलीश के रूप में प्रकट हुआ तथा भगवान लकुलीश की पूजा व उनकी मूर्ति को रेशमी वस्त्र से बांधने का महत्व तथा विधियां समझाईं। यह रचना चार भागों में विभाजित है, प्रथम वायु-पुराण में से है तथा शेष तीन शिव-महापुराण में से हैं। रचना

---

[1] देखिए शिव-महापुराण, वायवीय संहिता २-९ तथा कर्म पुराण १-५३ भी। वायु पुराण के तेइसवें अध्याय में अठाइस योगाचार्यों में से प्रत्येक के चार शिष्यों के नाम वर्णित हैं। विशुद्ध मुनि ने अपनी रचना "आत्म समर्पण" में लकुलीश के नाम का उल्लेख भी किया है। "पाशुपत-सूत्र की भूमिका" का पृष्ठ तीन एन भी देखिये।

शिव महापुराण में दी गई अठाईस शिक्षकों की सूची, सदैव अन्य विद्वानों द्वारा संग्रहित सूची अथवा विशुद्ध मुनि के "आत्म समर्पण" में पाई गई सूची से समानता नहीं रखती है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से कुछ नाम नितान्त कल्पित हैं तथा उनके नाम अधिक प्रयोग में नहीं आते क्योंकि उनकी रचनायें प्राप्त नहीं हैं। विशुद्ध मुनि ने पाशुपत-शास्त्र के संयम अथवा यम के मुख्य तत्वों का संक्षिप्त वर्णन किया है जो लगभग वैसा ही है जैसा पतंजलि कृत योगशास्त्र के यम अथवा संयम के नियम। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि योगशास्त्र में ईश्वर का प्रत्यय उसी प्रकार का है जैसा पशुपति का पाशुपत सूत्र तथा भाष्य में है।

के आरंभ में महेश्वर के प्रति वन्दना है जिन्होंने लकुट पाणीश के रूप में अवतार लिया। इसमें शिव तथा पार्वती के मध्य एक वार्तालाप है जिसमें पार्वती शिव से रेशमी वस्त्र बांधने का महत्व पूछती हैं। शिव तब कलि तथा द्वापर-युग के मध्य में अत्रि मुनि के परिवार में विश्वराज नामक ब्राह्मण के रूप में अपने अवतार की कथा वर्णित करते हैं। उनकी माता सुदर्शन थी। कारवण-माहात्म्य में शिव के अवतार इस बालक के विषय में, कुछ विलक्षण कल्पित गल्प वर्णित हैं किन्तु उनका प्रत्याख्यान करना ही उचित है।

हमने पहले ही अत्रि के नाम का उल्लेख, पाशुपत-सम्प्रदाय के मुख्य शिक्षकों में किया है। किन्तु शिक्षकों के उपर्युक्त वर्णन के अनुसार नकुलीश को इस प्रणाली का प्रथम संस्थापक मानना चाहिए। हमने यह भी देखा है कि पंचार्थ लाकुलाम्नाय के मत का, जो पाशुपत-सूत्र में प्रतिपादित मत के समान ही होगा, दसवीं शताब्दी के मध्य तक एक शिक्षक था। यह कहना कठिन है कि पशुपति का प्रत्यय कितने समय पूर्व विकसित हुआ होगा। मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से हमें एक ऐसी लघु मूर्ति प्राप्त हुई है जिसमें शिव सांड़ पर बैठे बनाए गए हैं, जिन्हें सर्प तथा अन्य पशु घेरे हुए हैं। यह मूर्ति पूर्व वैदिक काल में पाए गए पशुओं के भगवान अथवा पशुपति के प्रत्यय की कला में अभिव्यक्ति है। शिव का प्रत्यय वेदों में पाया जा सकता है तथा उपनिषदों, मुख्यत: श्वेताश्वतर उपनिषद में भी पाया जा सकता है। यही विचार महाभारत तथा अन्य कई पुराणों में भी पाया जा सकता है। शिव के धार्मिक पंथ को, जो शिव के प्रत्यय की विभिन्न पौराणिक अर्थों में परिभाषा करता है, यहां पर छोड़ देना होगा क्योंकि प्रस्तुत रचना की रुचि निश्चित रूप से दार्शनिक विचार तथा शिव के अनुयायियों के नैतिक तथा सामाजिक विचारों तक सीमित है।[1]

किन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि आठवीं शताब्दी के बहुत पूर्व ही शैव-दर्शन तथा शिव-पूजा, समस्त प्रायद्वीप में बहुत दूर-दूर तक विस्तृत हो चुकी थी। उत्तर में बद्रिकाश्रम में, नेपाल (पशुपतिनाथ) में, काश्मीर में, प्रभास में, काठियावाड़ में (सोमनाथ का मन्दिर), बनारस में (विश्वनाथ का मन्दिर), कलकत्ते में नकुलीश्वर का मन्दिर तथा सुदूर दक्षिण भारत में रामेश्वर के मन्दिर में हमारे पास शिव के अत्यधिक पवित्र मन्दिर हैं। शिव पूजा के अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थानों में से ये केवल कुछ ही हैं। वास्तव में भारत के प्रत्येक भाग में शिव पूजा प्रचलित है तथा अनेक नगरों में शिव के मन्दिर में हमें या तो अवशेषों के रूप में अथवा पूजा के यथार्थ स्थानों के

---

[1] जो भगवान शिव के विभिन्न पक्षों के विकास के अध्ययन में रुचि रखते हैं, वे भंडारकर कृत वैष्णवमत तथा शैवमत देख सकते हैं तथा धर्म एवं नीति शास्त्र के विश्व कोष में फ्रेजर का शैव मत पर लेख भी देख सकते हैं।

रूप में मिलते है। साधारणतः शिव की पूजा लिंग-सम्बन्धी प्रतीक के रूप में की जाती है तथा प्रत्येक जाति के पुरुष तथा स्त्रियां भी प्रतीक का स्पर्श कर सकते हैं। शैव प्रकार की दीक्षा तथा तांत्रिक प्रकार की दीक्षा को वैदिक प्रकार की दीक्षा से भिन्न करना है जो केवल तीन उच्च जातियों के लिए प्रारक्षित है। परन्तु, क्योंकि प्रस्तुत रचना का उद्देश्य शैवमत तथा तांत्रिक मत की विवेचना करना है, अतः जहां तक संभव होगा कर्मकाण्डों तथा पूजा की विधियों से सम्बन्धित समस्त संदर्भों को छोड़ दिया जायगा।

चौदहवी शताब्दी के मध्य के जैन लेखक राजशेखर अपनी 'षड्-दर्शन-समुच्चय' में शैव दर्शन के नाम का वर्णन करते है तथा इसे एक योग मत कहते हैं।[1] वह शैव वैरागियों का अपने हाथों में त्रिशूल लिए हुए तथा कोपीन धारण किए हुए रूप में वर्णन करते है। (प्रौढ़-कोपीन-परिधायितः)। उनके पास शरीर ढकने के लिए कम्बल भी थे, जटाये थी तथा उनके शरीर पर भस्म मली रहती थी। वे मेवा खाते, तुम्बक का वर्तन रखते तथा साधारणतः वनों में रहते थे। कुछ के स्त्रियां थी जबकि अन्य एकान्त जीवन व्यतीत करते थे। राजशेखर पुनः कहते हैं कि शैवों में शिव के अठारह अवतार स्वीकार किए हैं जो महाप्रभु संसार की सृष्टि तथा संहार करता है। हमने पहले ही "षड्दर्शन-समुच्चय" में प्राप्त शिक्षकों के नामो का उल्लेख किया है। इन शिक्षकों की विशेष रूप से श्रद्धा की जाती थी तथा इनमें से अक्षपाद ने तर्कशास्त्र की प्रणाली प्रतिपादित की जिसमें उन्होंने प्रमाणों, प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, सामान्यु-मान तथा शब्द प्रमाण की विवेचना की तथा गौतम अथवा अक्षपाद के न्यायसूत्र में प्राप्त सोलह पदार्थों का भी वर्णन किया। राजशेखर ने जयन्त, उदयन तथा भासर्वज्ञ के नामों का उल्लेख किया है। इस प्रकार राजशेखर के अनुसार नैयायिक शैव माने जाते थे। ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि राजशेखर ने न्याय प्रणाली का कोई विशेष अध्ययन किया था वरन् उन्होंने अपने कथनों को समय की परम्परा पर आधारित किया।[2] वह वैशेषिकों को भी पाशुपत मानते हैं। वैशेषिक मतानुयायी नैयायिकों के समान ही वस्त्र धारण करते थे तथा उनके अनुरूप ही उनकी मान्यताएँ थीं। परन्तु उनसे भिन्न वे यह मानते थे कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण हैं तथा अन्य प्रमाण इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। वह उन छः पदार्थों का भी वर्णन करते हैं जो हमें वैशेषिक सूत्र में मिलते हैं। राजशेखर नैयायिकों को योगाः कहते हैं। वैशेषिक तथा न्याय लगभग एक ही प्रकार के हैं तथा दोनों ही दुःख की समाप्ति को अन्तिम मोक्ष मानते हैं। हरिभद्र सूरि कृत षड्दर्शन-समुच्च्य के टीकाकार गुणरत्न राजशेखर

---

[1] अथ योगमतम् ब्रूमः शैवम्-इति-अपरा मिधम्।
—राजशेखर कृत षड्-दर्शन-समुच्चय, पृ० ८ (द्वितीय प्रकाशन, बनारस)।

[2] श्रुतानुसारतः प्रोक्तम् नैयायिक-मतम् मया—तत्रैव, पृ० १०।

के समान जैन लेखक थे तथा पूर्ण संभावना है कि वे उनके बाद के समकालीन थे। नैयायिकों अथवा योगों के विषय मे उनके वहुत से वर्णन राजशेखर की रचना से लिए हुए प्रतीत होते हैं, अथवा यह भी हो सकता है कि राजशेखर ने यह वर्णन गुणरत्न से लिए हों क्योंकि अनेक स्थानों पर वर्णन समान हैं। गुणरत्न कहते हैं कि शैव चार प्रकार के थे जैसे शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख।[1] इनके अतिरिक्त गुणरत्न तथा राजशेखर उनके विषय में कहते हैं, जिन्होंने शिव की सेवा का व्रत ले लिया है तथा वे भरत तथा भक्त कहलाते हैं। किसी भी जाति के मनुष्य शिव के भरतों अथवा भक्तों के वर्ग में सम्मिलित हो सकते हैं। नैयायिक सदैव शिव के भक्त माने जाते थे तथा वे शैव कहलाते थे। वैशेषिक दर्शन पाशुपत कहलाता था।[2] हरिभद्र यह भी कहते हैं कि वैशेषिकों ने नैयायिकों के ही देवताओं को स्वीकार किया।[3]

कापालिकों तथा कालमुखों के अतिरिक्त, जिनके विषय में उनकी धार्मिक क्रियाओं तथा अवैदिक व्यवहार के विरुद्ध परम्परागत आरोपों के अतिरिक्त हम बहुत कम जानते हैं, हमारे पास शैव-आगमों में वर्णित पाशुपत प्रणाली का मूल ग्रंथ तथा शैव दर्शन है। हमारे पास वायवीय संहिता में वर्णित पाशुपत शास्त्र, अप्पय दीक्षित द्वारा संपादित श्रीकंठ का शैव दर्शन तथा श्रीकुमार एवं अघोर शिवाचार्य द्वारा विवेचना

---

[1] शैवः पाशुपत श्चैव महाव्रत-धरस् तथा,
तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदा इति तपस्विनाम्।
हरिभद्र की षड्दर्शन-सामुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ० ५१ (सौ भी का संस्करण, कलकत्ता, १९०५)।

अतः गुणरत्न के अनुसार महाव्रतधर तथा कालमुख पूर्णतया भिन्न हैं। गुणरत्न ने कापालिक का उल्लेख नहीं किया है। शैवों के यह चार वर्ग आरम्भ में ब्राह्मण थे तथा उनके पास यज्ञोपवीत था। उनका अन्तर मुख्यतः भिन्न प्रकार की धार्मिक क्रियाओं तथा आचार के कारण था:—

आधार-भस्म-कौपीन-जटा-यज्ञोपवीतनः
स्व-स्वाचारादि-भेदेन चतुर्धा स्युस् तपस्वितः।

रामानुज ने कापालिकों तथा कालमुखों के नाम का वर्णन वेदों के क्षेत्र से बाहर (वेद-बाह्य) किया है। आनन्द गिरी की शंकर विजय में भी कापालिकों को वेदों के क्षेत्र से बाहर दर्शित किया है। परन्तु वहां कापालिकों का वर्णन नहीं है।

[2] देखिए, गुणरत्न का टीका, पृ० ५१।

[3] देवता विषयो भेदोनास्ति नैयायिकः समम, वैशेषिकानाम् तत्वे तु—विद्यते सौ निदर्शयते।

—हरिभद्र कृत षड्दर्शन-समुच्चय, पृ० २६६।

किया हुआ धार के राजा भोज द्वारा प्रतिपादित उनके "तत्त्व प्रकाश" में शैव दर्शन भी है। हमारे पास वीर शैव मत भी है जो बाद के काल में विकसित हुए तथा उसकी विवेचना श्रीपति पण्डित द्वारा ब्रह्मसूत्र की एक टीका में है जिन्हें साधारणतः चौदहवीं शताब्दी का माना जाता है।[1] श्रीपति, पण्डित पाशुपतों, रामानुज तथा एकोराम एवं वीर शैव धर्म के पांच आचार्यों के भी परवर्ती थे। श्रीपति माधवाचार्य के भी परवर्ती थे। परन्तु यह आश्चर्यजनक है कि माधव, वीर-शैवमत अथवा श्रीपति पण्डित के विषय में कुछ भी जानते प्रतीत नहीं होते हैं। वह अवश्य ही बारहवी शताब्दी के बसव के उत्तरकालीन थे जो वीर शैवमत के संस्थापक माने जाते हैं। जैसा कि हयवदनराव इंगित करते हैं कि श्रीपति श्रीकंठ के परवर्ती थे, जिन्होने ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा है।[2] हमने पृथक् भाग में श्रीकंठ के दर्शन की विवेचना की है। श्रीकंठ ग्यारहवीं शताब्दी में किसी समय वर्तमान थे तथा रामानुज के अल्प समकालीन हो सकते हैं। श्रीकंठ ब्रह्मसूत्र ३-३-२७-३० की अपनी विवेचना मे रामानुज तथा निम्बार्क के विचारों की आलोचना करते हैं। शिलालेखीय आधार पर हयवदनराव का विचार है कि श्रीकंठ ११२२ ई० में वर्तमान थे।[3]

संस्कृत रचना शिव-ज्ञान-बोध के तमिल अनुवाद के अत्यधिक प्रसिद्ध लेखक मेयक देव दक्षिण अरकाट प्रदेश के निकट तिरुवेन्नेयल्लुर के थे। चोल राजा राज-राज तृतीय (१२१६-४८ ई०) के सोलहवें वर्ष का एक शिलालेख है जिसमें मेयकंड द्वारा स्थापित मूर्ति को भूमिदान के विषय में लिखा है। यह परन्जोति मुनि के शिष्य मेयकन्ड देव का समय लगभग तेरहवीं शताब्दी के मध्य में निर्धारित करता है। लम्बे तर्क के पश्चात् हयवदनराव इस विचार पर पहुंचते हैं कि यदि इससे कुछ पूर्व नहीं तो २३५ ई० के लगभग मेयकंड देव वास्तव में वर्तमान थे।[4] शिलालेखों से यह निश्चित किया गया है कि ब्रह्मसूत्र के टीकाकार श्रीकंठ लगभग १२७० में वर्तमान थे। यह सर्वथा संभव है कि मेयकंड तथा श्रीकंठ समकालीन थे। मेयकंड तथा श्रीकंठ का दार्शनिक अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है अतः दोनों व्यक्तियों को एक नहीं समझा जा सकता।[5] श्रीकंठ का विचार है कि संसार भगवान की चिच्छक्ति का रूपान्तर है। यह भौतिक संसार की सृष्टि के लिए कुछ नहीं कहता है, न आणवमल के

---

[1] सी० हयवदनराव कृत श्रीकर-भाष्य, भाग १, पृ० ३१।

[2] वही, पृ० ३६।

[3] वही, पृ० ४१।

[4] वही, पृ० ४८।

[5] वही, पृ० ४६। श्रीकंठ तथा मेयकंड देव की प्रणालियों की विवेचना प्रस्तुत रचना में पृथक भागों में की गई है।

विषय में कहता है तथा प्रत्यक्ष ही जीवन मुक्ति के पक्ष में नहीं है। पुनः श्रीकंठ श्रुति के आधार पर अपनी प्रणाली को स्थापित करते प्रतीत होते हैं; किन्तु मेयकंड देव अपनी प्रणाली को अनुमान पर आधारित करने का प्रयत्न करते हैं तथा भिन्नता के अनेक दूसरे विषय भी हैं जो हमारी मेयकंड देव की व्याख्या से सुगमता से समझ में आ जायेंगे। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीकंठ का मेयकंड देव से कोई सम्बन्ध था।

श्रीपति ने हरदत्त को बहुत सम्मानपूर्वक शब्दों में उद्धृत किया है। हयवदनराव ने "भविष्योत्तर-पुराण" में दिए हुए हरदत्त के जीवन वृत्तान्त की ओर तथा उनके टीकाकार शिवलिंगभूपति के लेखों का उल्लेख किया है, जो हरदत्त को कलिकाल ३९७९ अर्थात् लगभग ८७९ ई० में निर्धारित करते हैं; किन्तु शिव-रहस्य-दीपिका में हरदत्त का समय कलिकाल का लगभग ३००० दिया है। प्रोफेसर शेषगिरी शास्त्री ने प्रथम तिथि को अधिक उपयुक्त स्वीकार किया है तथा सर्वदर्शन-संग्रह में उद्धृत हरदत्त को तथा हरिहर-तारतम्य एवं चतुर्वेद-तात्पर्य-संग्रह के लेखक को एक ही माना है। जैसा कि हमने अन्य स्थान पर वर्णन किया है, हरदत्त गणकारिका के लेखक थे। पूर्ण संभावना है कि श्री दलाल ने अपनी गणकारिका की भूमिका में इन दोनों में भ्रान्ति की हो जिसमें वे कहते हैं कि भासर्वज्ञ गणकारिका के लेखक थे। वास्तव में हरदत्त ने केवल कारिका ही लिखी तथा न्याय लेखक भासर्वज्ञ ने इस पर "रत्न टीका" नामक टीका लिखी।[1] श्रीपति ने सिद्धान्त-शिखामणि से उद्धृत किया है जो रेवणार्य द्वारा लिखित एक वीर शैव रचना है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि यद्यपि वीर शैव मत की स्थापना कम से कम इतने पूर्व जितना वसव (११५७-६७) काल में हुई थी, तथापि चौदहवीं शताब्दी में माधव को वीर शैव के विषय में कुछ भी ज्ञात न था। फिर भी यह सन्देहात्मक है कि क्या वास्तव में वसव भारत में शैव मत के संस्थापक थे? कन्नड़ में "वसव के वचन" नामक कुछ कथन हमारे पास हैं किन्तु उनके नाम का उल्लेख कदाचित् ही वीर शैव धर्म के लेखों के शिक्षक के रूप में हम पाते हैं। वसव-पुराण नामक रचना में वसव का एक अर्ध-पौराणिक वर्णन है। उसमें यह कहा गया है कि वीर शैव मत के विस्तार के लिए शिव ने नन्दी से संसार में अवतार लेने को कहा। वसव ही यह अवतार थे। वे बागेवाड़ी के निवासी थे। जहाँ से वे कल्याण गए, जहाँ विज्जल अथवा विज्जन राज्य करते थे (११५७-६७ ई०)। उनके मामा वलदेव मंत्री थे।

---

[1] गणकारिका की पुष्पिका निम्नांकित है—

आचार्य भासर्वज्ञ-विरचितायाम् गणकारिकायाम् रत्न टीका परिसमाप्ता।

इससे यह भ्रम हुआ कि गणकारिका भासर्वज्ञ की रचना है, जिन्होंने केवल टीका लिखी। इन हरदत्त को काशिकावृत्ति पर पद-मंजरी तथा आपस्तम्ब सूत्र के टीकाकार से भी भिन्न करना है।

थे तथा शैव कहला सकते थे। वैष्णवों में भी हम इसी प्रकार क्रमिक विस्तार तथा जाति प्रथा का अपक्रम पाते हैं। शैव तथा वैष्णव दोनों ही मतों में ईश्वर के प्रति भक्ति, निष्ठा का प्रमाण मानी जाने लगी।

हमने पहले ही कारवण माहात्म्य के इस कथन की ओर उल्लेख किया है कि किस प्रकार भगवान ने अत्रि के वंशज के रूप में अवतार लिया। कहा जाता है कि वह पैदल उज्जैन गए तथा ब्रह्मावर्त से आए हुए कुशिक नामक ब्राह्मण को शिक्षित किया। यह शिक्षायें पंचार्थ नाम के वर्तमान सूत्रों के रूप में थी, जिसका मुख्य सार पहले ही वर्णित किया गया है। साधारणत: ऐसा विश्वास है कि पांच अध्यायों में विभाजित (पंचार्थ) मौलिक सूत्रों की रचना प्रथम अथवा द्वितीय ई० में किसी समय हुई थी। कौंडिन्य के भाष्य तथा राशीकर भाष्य संभवत: एक ही थे। कौंडिन्य ने अपने समकालीन किसी लेखक के नाम का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने सांख्य योग की ओर संकेत किया है किन्तु वेदान्त अथवा उपनिषदों की ओर नहीं। अत: यह ध्यान देना रोचक है कि इस प्रणाली ने उपनिषदों के प्रमाण अथवा उनके आश्रय की आकांक्षा नहीं की है। सूत्रों का प्रमाण इस कल्पना पर आधारित है कि वे स्वयं पशुपति द्वारा रचित थे। कौंडिन्य की रचनाओं में अनेक उद्धरण हैं किन्तु उनके उद्गमों की पहचान संभव नहीं है। कौंडिन्य के भाष्य की लेखन पद्धति हमें वैयाकरण पतंजलि के लेखों का स्मरण दिलाती है जो संभवत: लगभग १५० ई० पू० में वर्तमान थे। साधारणत: यह विश्वास किया जाता है कि कौंडिन्य ४००-६०० के मध्य में वर्तमान थे। यद्यपि मैं नहीं समझ पाता कि क्यों वह एक या दो शताब्दी पूर्व के भी नहीं माने जा सकते। गणकारिका का काल वस्तुत: अनिश्चित है; किन्तु भासर्वज्ञ ने इस पर रत्नटीका नामक टीका लिखी थी। वे दसवीं शताब्दी के मध्य में वर्तमान प्रतीत होते हैं। यह ध्यान देना रोचक है कि कारवण माहात्म्य में सोमनाथ का मन्दिर अत्यधिक महत्वपूर्ण पाशुपत केन्द्रों में से एक के रूप में वर्णित है।

नकुशीय पाशुपत प्रणाली, शैव प्रणाली तथा काश्मीर की प्रत्यभिज्ञा प्रणाली की व्याख्या हमें चौदहवीं शताब्दी के माधव की सर्व-दर्शन-संग्रह में मिलती है। नकुशील-पाशुपत-प्रणाली पाशुपत-सूत्र तथा कौंडिन्य के भाष्य पर (जिसे राशीकर भाष्य भी कहा गया है) आधारित है। अत: माधव लगभग दस शैव रचनाओं का वर्णन करते हैं जो अनेक अन्य रचनाओं के साथ प्रस्तुत लेखक को पूर्ण अथवा आंशिक हस्त लेखों के रूप में प्राप्त हैं।[1] शंकर ने ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर अपने भाष्य में माहेश्वरों के

---

[1] जिन रचनाओं का माधव ने अपने "सर्व-दर्शन-संग्रह" में वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं--मृगेन्द्रागम, पौष्करागम, भोज की तत्व प्रकाश, सोम संभु का भाष्य, अघोर शिवचार्य की तत्व प्रकाश पर टीका, कालोत्तरागम्, रामकन्दु की कालोत्तरागम पर टीका, किरणागम, सौरभेयागम तथा ज्ञान रत्नावली।

संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय भाषा में लिखे गए थे।"[1] यह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि आगम संस्कृत तथा कुछ द्रविड़ भाषाओं (जैसे तमिल, तैलगु, कन्नड़) दोनों में प्राप्त हैं। तथा यह इस प्रतिवाद को भी स्पष्ट करता है कि आगम अथवा सिद्धान्त मौलिक रूप से संस्कृत में लिखे गए थे अथवा द्रविड़ भाषा में? सौभाग्य से प्रस्तुत लेखक सम्पूर्ण आगमों को अथवा आगमों के आंशिक भागों का संकलन कर सका है। बहुत से हस्तलेख नष्ट होने की अवस्था में हैं तथा उनमें से कुछ पूर्ण रूप से खो गए हैं; संस्कृत हस्तलेख जिस पर हमारा यह प्रयत्न आधारित है ट्रिपलीकेन, अडयार तथा मैसूर के बृहत् हस्तलेख पुस्तकालयों में प्राप्त हैं। यह आश्चर्य है कि बनारस में जो शैव का प्रमुख अवस्थान है, बहुत ही कम महत्वपूर्ण हस्तलेख हैं। महत्वपूर्ण "सिद्धान्त" तथा "आगम" यथेष्ट संख्या में हैं तथा उनमें से अत्यधिक हस्तलेख दक्षिण भारत में हैं।[2] अनेक दृष्टान्तों में ऐसी ही रचनायें पूर्ण द्रविड़ भाषा में मिल सकती हैं, किन्तु प्रेरणा तथा विचार लगभग सदैव ही संस्कृत से लिए गए हैं। अतः द्रविड़ सभ्यता का सार, कम से कम जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, लगभग पूर्ण रूप से संस्कृत से लिया गया है।

---

[1] संस्कृतैः प्राकृतैर् वाक्यैर् यश्च शिष्यानुरूपतः
देशभाषाद्युपायैश्च च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः।

शिव-ज्ञान-सिद्धि में उद्धरित शिव धर्मोत्तर (हस्तलेख संख्या ३७२६ आरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर।

[2] कुछ आगम इस प्रकार हैं—कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, अंशुमान, सुप्रभेद, विजय, निःश्वास, स्वायंभुव, वीर, रौरव, मकुट, विमल, चन्द्र ज्ञान, बिम्ब, ललित, सन्तान, सर्वोक्त, पारमेश्वर, किरण वातुल, शिव-ज्ञान-बोध, अनल, प्रोदगीत।

शिव-ज्ञान-सिद्धि में हम अन्य आगमों तथा तंत्रों से विस्तृत उद्धरण पाते हैं जो सिद्धान्तों की दार्शनिक तथा धार्मिक स्थिति स्पष्ट करते हैं। जिन रचनाओं से उद्धरण लिए गए हैं वे इस प्रकार हैं—हिम-संहिता, चिन्त-विश्व, शिव-धर्मोत्तर (पुराण), पौष्कर, शिव तंत्र, सर्व-संतोपन्यास, पारा, रत्न जय, निवास, मृगेन्द्र, ज्ञान-कारिका, नाद-कारिका, कालोत्तर, विश्व-सारोत्तर, वायव्य मातंग, शुद्ध, सर्व-ज्ञानोत्तर, सिद्धान्त-रहस्य, ज्ञान-रत्नावली, मेरुतंत्र, स्वच्छद तथा देवी-कालोत्तर।

उपर्युक्त बहुत से आगम संस्कृत पद्धति में लगभग ६ द्रविड़ भाषाओं में लिखे गए हैं, तमिल, तैलगु, कन्नड़, ग्रन्थ तथा नन्द नगरी। आगमों पर आधारित अनेक तंत्र संस्कृत रचनाओं में द्रविड़ लिपि में भी मिलते हैं। जहाँ तक पुस्तक लेखन का ज्ञाम है, दार्शनिक महत्व का अथवा क्रमिक विचार धारा में कदाचित् ही ऐसा कुछ होगा जो द्रविड़ भाषा में प्राप्त हो तथा संस्कृत में न हो।

किया हुआ शैव सिद्धान्त मत उन अनेक शैव विचारधाराओं में से एक है जो देश में प्रचलित था। शोमरुस का विचार पाशुपत वीर शैव तथा प्रत्यभिज्ञा के अतिरिक्त, यह मत लगभग समान ही है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि शोमरुस ने आगमों के मूल ग्रन्थ का उपयोग किया है, तथा यह दर्शाया है कि वे किस प्रकार विषय पर आगे बढ़े हैं। किन्तु हमने अपने आगमी शैव मत की व्याख्या में आगमों की रचनाओं का उपयोग करने का प्रयत्न किया है, जो सम्पूर्ण अथवा आंशिक रूप में अभी भी प्राप्त हैं। परन्तु आगमों का एक बृहत् भाग कर्मकाण्ड, पूजा के रूप, पूजा के स्थान के निर्माण तथा मंत्रों की व्याख्या करता है। इनका कोई दार्शनिक महत्व नहीं है, अतः उनके विषय में विचार नहीं किया जा सकता तथा उनकी यहाँ उपेक्षा की गई है।

आगमी शैव मत, मुख्यतः तमिल प्रदेश का, पाशुपत गुजरात का प्रत्यभिज्ञा कश्मीर तथा भारत के उत्तरी भागों का है एवं वीर शैव अधिकांशतः कन्नड़ भाषी प्रदेशों में पाया जाता है। शोमरुस यह संकेत करते हैं कि कभी-कभी यह कहा जाता है कि आगम ऐतिहासिक काल से पूर्व द्रविड़ भाषाओं में लिखे गए थे तथा वे अपने उद्गम के लिए शिव की आकाशवाणी तथा तिनिवेल्ल प्रदेश में महेन्द्र पर्वत में श्रीकंठ रुद्र के रूप नन्दी के ऋणी हैं। बृहत् बाढ़ के कारण इन अट्ठाईस आगमों में से अनेक नष्ट हो गए। शेष अब संस्कृत अनुवादों में प्राप्त हैं तथा द्रविड़ मूल रचनाओं में भी संस्कृत शब्द प्रचुर मात्रा में हैं। किन्तु इस मांग को किसी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता। शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता तथा सूत-संहिता में आगमों का उल्लेख मिलता है।[1] उल्लेखों से यह प्रदर्शित होता है कि कामिक तथा अन्य आगम संस्कृत में लिखे गए थे क्योंकि उनसे वेद सम्बन्धित साहित्य का निर्माण हुआ। प्रस्तुत लेखक को कामिक के अंश संस्कृत उद्धरण में प्राप्त हैं, इसी प्रकार मृगेन्द्र जो कामिक का एक भाग है, सम्पूर्ण रूप में संस्कृत में प्राप्त है। प्रस्तुत लेखक ने आगमी शैव मत के खंड की सामग्री इन्हीं आगमों से ली है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि स्वायंमुवागम में एक निश्चित लेख है कि संस्कृत रचनाओं का प्राकृत तथा अन्य स्थानीय भाषाओं में अनुवाद हुआ था। अतः हम यह विचारने के लिए विवश हो जाते हैं कि यह कथन, कि आगम मूलतः द्रविड़ भाषाओं में लिखे गए थे, तथा तत्पश्चात्

---

[1] सूत संहिता भाग १ अध्याय २ में हम देखते हैं कि वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, महाभारत, वेदांग, उपवेद, आगम जैसे कि कामिक आदि, कापाल तथा लाकुल, पाशुपत, सोम तथा भैरवागम तथा ऐसे ही अन्य आगम, एक ही समान ऐसे वर्णित हैं कि वे सम्बन्धित साहित्य का निर्माण करते हैं। सूत-संहिता साधारणतः छठी शताब्दी ई० की रचना मानी जाती है।

चार आचार्य हैं। तत्पश्चात्, हमें नम्पियान्दार तथा सेविकलर, शैव सिद्धान्त के दो प्रमुख लेखक मिलते हैं। इनमें से प्रथम की रचनाओं का एक संग्रह तमिल वेद के नाम से प्रचलित हुआ। सम्भवतः वह ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में वर्तमान थे।

दक्षिण के शैव मन्दिरों में अब भी तमिल वेद का उच्चारण होता है। वह ग्यारह पुस्तकों का संकलन है। प्रथम सात सूक्त के रूप में हैं। आठवीं पुस्तक, तीन आचार्यों-अप्पर, ज्ञान सम्बन्ध तथा सुन्दर की है, नवीं में पुनः सूक्त हैं। दसवीं में भी हम तिरुमुलर के कुछ सूक्त पाते हैं। ग्यारहवीं पुस्तक के एक भाग में पौराणिक उपाख्यान हैं जो पेरिय-पुराण का मूल आधार निर्धारित करते हैं; जो तमिल सन्तों के बहुत महत्वपूर्ण तमिल उपाख्यानों का आधार है। ग्यारहवीं शताब्दी तक पुस्तक पूर्ण हो गई थी। तेरहवीं शताब्दी में शैव सिद्धान्त-सम्प्रदाय का शैव मत के एक सम्प्रदाय के रूप में, मेयकंडदेव तथा उनके शिष्य अरूलनन्ति तथा उमापति के साथ उद्भव हुआ।

पोप के तिरूवाचक के अनुवाद में, शोमरस के डेर-शैव-सिद्धान्त तथा ए. एन. पिल्ले के लेखों में शैव मत का वर्णन (जितना भी तमिल मूल ग्रन्थों से संग्रहित हो सकता है) मिलता है। प्रस्तुत लेखक तमिल भाषा से अपरिचित है तथा उसने अपनी रचना सामग्री आगमों के मौलिक संस्कृत हस्तलेखों से संग्रहीत की है; जिसकी कि तमिल व्याख्या केवल एक प्रतिरूप है।

आगम साहित्य तथा उसका दार्शनिक स्वरूप

जो दार्शनिक विचार आगम साहित्य में मिलते हैं उनका संक्षिप्त सारांश शैव मत के अन्तर्गत "सर्व-दर्शन-संग्रह" में है तथा उनकी प्रचुर विवेचना प्रस्तुत रचना के कुछ खंडों में भी है। आगम साहित्य यथेष्ठ विस्तृत है परन्तु इसकी दार्शनिक उपलब्धि वस्तुतः गौण है। आगमों में कुछ दार्शनिक तत्व हैं परन्तु इनकी रुचि शैव पंथ के धार्मिक विवरणों की ओर अधिक है। अतः हमें यथेष्ठ मात्रा में धार्मिक क्रियाओं, मन्दिरों के निर्माण के लिए शिल्प कला सम्बन्धित विधियों के विषय में विवरण एवं मंत्र तथा शिव की प्राण लिंग प्रतिष्ठा से सम्बन्धित पूजा के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। फिर भी अधिकतर आगमों में "विद्या पाद" नामक पृथक् भाग है, जिसमें सम्प्रदाय के सामान्य दार्शनिक विचार प्रतिपादित हैं। जैसे-जैसे हम एक आगम से दूसरे की ओर जाते हैं, वैसे-वैसे इन मतों के वर्णन में कुछ भिन्नतायें मिलती हैं। यद्यपि इन आगमों में से अधिकतर अभी भी अप्रकाशित हैं तथापि वे भारत के विभिन्न भागों के लाखों व्यक्तियों द्वारा आचरित शैवमत के धार्मिक सार हैं। अतः एक स्वाभाविक अन्वेषण हो सकता है कि आगमों के मुख्य सिद्धान्त क्या हो सकते हैं। किन्तु यह एक ही प्रकार के सैद्धान्तिक विचारों की निरन्तर आवृत्ति दिए बिना नहीं दिया जा सकता। प्रस्तुत रचना वास्तव में मुख्यतः दर्शन के अध्ययन से

सम्बन्धित है परन्तु क्योंकि शैव अथवा शाक्त विचारों का अध्ययन धार्मिक सिद्धान्तों से पृथक् नहीं किया जा सकता, जिससे वे अपृथक् रूप से सम्बन्धित हैं, अतः हम आगमों के केवल कुछ प्रतिरूप ही ले सकते हैं तथा उनमें प्राप्त विचारों के स्वरूप का निरूपण कर सकते हैं। ऐसा करने में हम पर आवृत्ति का आरोप लगाया जा सकता है किन्तु हमें अत्यन्त महत्वपूर्ण आगमों में से कुछ के विषयों पर कम से कम एक द्रुत निरीक्षण करने के लिए इस आरोप का सामना करना ही होगा। आगे के विवरण से पाठक को महत्वपूर्ण आगमों में से कुछ के दार्शनिक पक्ष के साहित्यिक विषय पर निर्णय करने का अवसर मिल जायगा; जिससे शैव मत का भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं से आन्तरिक सम्बन्ध के विषय में विस्तृत दृष्टिकोण प्राप्त हो सकेगा।

सर्व-दर्शन-संग्रह में मृगेन्द्रागम को बहुधा उद्धरित किया गया है। यह रचना कामिकागम की एक सहायक भाग कही गयी है, जो प्राचीनतम आगमों में से एक मानी जाती है तथा जिसका उल्लेख "सूत-संहिता" में किया गया है जो सोलहवीं शताब्दी की रचना मानी जाती है। 'सूत-संहिता" में कामिकागम का उल्लेख उसी सम्मान से किया गया है जो अत्यधिक प्राचीन मूल ग्रन्थों के युक्त हैं।

मृगेन्द्रागम[1] का आरम्भ इस तर्क से होता है कि किस प्रकार शैव पंथ ने वैदिक प्रकार की पूजा को निष्प्रभाव किया। यह इंगित किया गया था कि वैदिक देवता साकार ठोस पदार्थ नहीं थे, किन्तु उनकी वास्तविकता मंत्रों में थी; जिनसे उनका स्वागत तथा पूजा होती थी एवं फलस्वरूप वैदिक पूजा दिक् व काल में स्थित साकार पूजा नहीं मानी जा सकती। परन्तु शिव के प्रति भक्ति, पूजा की निश्चित तथा साकार विधि मानी जा सकती है। अतः वह वैदिक अभ्यासों को निष्प्रभावित कर सकती थी। रचना के द्वितीय अध्याय में शिव को समस्त अशुद्धि-रहित रूप में वर्णित किया गया है। वह सर्वज्ञ है तथा सब वस्तुओं का निमित्त कारण है। उसे इसका पूर्ण ज्ञान है कि जीव किस प्रकार व्यवहार करेंगे तथा उसी के अनुसार वह सब प्राणियों को बन्धन की गाँठों में संयुक्त तथा पृथक् करता है।

शैवागम सृजन, पालन, संहार, सत्य तथा मोक्ष के आवरण की मुख्य समस्या का विवरण करता है। यह सब, निमित्त कारण भगवान शिव द्वारा किया जाता है। इस दृष्टिकोण से संसार का सृजन, पालन तथा संहार की योजना स्वाभाविक

---

[1] मौलिक हस्तलेख के आधार पर इस खंड को लिखने के पश्चात् प्रस्तुत लेखक को के० एम० सुब्रमनिया शास्त्री द्वारा १९२८ में प्रकाशित मृगेन्द्रागम् की विद्या तथा योगपाद की छपी पुस्तक भट्ट नारायण कंठ की "मृगेन्द्रवृत्ति" नामक टीका तथा अघोर शिवाचार्य की "मृगेन्द्र-वृत्ति-दीपिका" नामक उपटीका के साथ प्राप्त हुई है।

जीव को ईश्वर के अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, क्योंकि वह स्वयं अपने आप ऐसा करने के अयोग्य है। मनुष्य द्वारा किया गया कर्म भी प्रकृति में मिला रहता है तथा नियति के पदार्थ द्वारा कार्य उत्पन्न करता है।

शिव-ज्ञान-बोध

—लेखक मेयकंडदेव

जैसाकि पहले ही इंगित किया गया है, यह रौरवागम से ली हुई १२ कारिकाओं (कभी कभी सूत्र कहलाते हैं) की एक संक्षिप्त रचना है। इसकी अनेक टीकाएँ हैं। इसका तमिल अनुवाद शिव-ज्ञान-सिद्धि विचारधारा की मूल रचना है। इसका स्पष्टीकरण अनेक योग्य लेखकों द्वारा हुआ है। शिव-ज्ञान-सिद्धि का सामान्य तर्क निम्नलिखित है—

नर मादा तथा अन्य अलिंग पदार्थों से पूर्ण संसार का एक कारण अवश्य होगा। इस कारण का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता वरन् अनुमान करना होगा। यह कल्पना की जा सकती है कि इसका सृष्टा है क्योंकि इसकी सृष्टि काल में हुई है। इसके अतिरिक्त संसार स्वयं गतिमान नहीं हो सकता, अतः यह कल्पना की जा सकती है कि इसके पीछे कोई कारण होगा।

ईश्वर संसार का संहार-कर्ता है तथा वह मलों के उचित प्रकाशनार्थ उन्हें उपयुक्त सुविधाएँ देने के लिए पुनः सृष्टि करता है। अतः स्थिति यह है कि यद्यपि उपादान कारण पहले से ही उपस्थित है तथापि संसार की सृष्टि तथा पालन के लिए एक निमित्त कारण आवश्यक है। प्रलय के समय जगदाभास मलों में लय हो जाती है। कुछ अवधि के पश्चात् शिव की निमित्तता द्वारा संसार पुनः उत्पन्न होता है। इस प्रकार, एक ओर, शिव संसार की सृष्टि करते हैं एवं दूसरी ओर इसका संहार करते हैं। यह कहा जाता है कि जिस प्रकार ग्रीष्म में सब जड़ें सूख जाती हैं तथा वर्षा में नए पौधों के रूप में उत्पन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार यद्यपि संसार नष्ट हो जाता है तथापि प्राचीन मलों के प्रभाव, प्रकृति में दवे रहते हैं तथा उचित समय आने पर ईश्वर की संकल्पना शक्ति के अनुसार अपने को संसार सृष्टि के भिन्न आकारों में प्रकट करने लगते हैं। व्यक्तियों के शुभ तथा अशुभ कर्मों के अनुरूप सृष्टि को एक अनिश्चित क्रम लेना पड़ता है। यह सृष्टि चार तत्वों के मिश्रण से स्वतः नहीं हो सकती।

ईश्वर निमित्त कारण है, जिसके द्वारा सृष्टि, पालन तथा संहार के कार्य होते हैं। मेयकंडदेव का शैव मत शंकर के शुद्ध अद्वैतवादी सिद्धान्त का पूर्ण विरोधी है। जीव को ब्रह्म का स्वरूप नहीं माना जा सकता। यह सत्य है कि उपनिषदों में जीव

से पूर्णतः अज्ञात है। केवल जीवों को ही संसार तथा शिव दोनों का ज्ञान है।[1] जब एक सन्त तीन प्रकार की अशुद्धियों--आणव, मायिक तथा कार्मण मल से मुक्त हो जाता है, तब जगदाभास उसके नेत्रों से अदृश्य हो जाता है तथा वह शुद्ध प्रकाश से एक हो जाता है।

सुरदन्ताचार्य ने अपनी "व्याख्यान कारिका" में उपरोक्त विचारों की आवृत्ति की है परन्तु वह यह मानते हैं कि शिव अपने सर्वज्ञान द्वारा समस्त संसार एवं समस्त प्राणियों के विषय का ज्ञान रखते हैं परन्तु वह उनसे प्रभावित नहीं होते।[2] एक अज्ञात लेखक की एक अन्य अपूर्ण टीका जिन्होंने मृगेन्द्र पर "मृगेन्द्रवृत्ति दीपिका" नामक टीका लिखी; जो कभी-कभी स्वायंभुवागम तथा मातंग-परमेश्वर-आगम की ओर संकेत करती है, पशुपति-पाश-विचार प्रकरण नामक रचना में शिव-ज्ञान-बोध के मुख्य प्रकरणों का विवरण करती है।

पशु की परिभाषा अशुद्धियों से ढकी चेतना (चिन्मात्र) के रूप में की गई है। पशु जन्म तथा पूर्व-जन्म की शृंखला सहन करता है तथा आत्मन के नाम से भी जाना जाता है। यह दिक् तथा काल में सर्वव्यापी है। शुद्ध चेतना ज्ञान तथा क्रिया के स्वभाव की है। आगम यह विश्वास नहीं करते कि आत्मा एक है। भिन्न प्रकार के मलों से अपने संयोजन द्वारा, जो उससे अनादिकाल से लिप्त हैं, यह शुद्ध चेतना ही है, जो परस्पर भिन्न प्रतीत होती है।[3]

इसके शरीर में काल से प्रारम्भ होकर स्थूल पदार्थ तक समग्र तत्व सम्मिलित हैं। आत्मा अनीश्वर कहलाती है, क्योंकि इसका सूक्ष्म शरीर हो सकता है किन्तु स्थूल नहीं, जिससे कि यह अपनी इच्छा का उपभोग करने में असमर्थ है। आत्मा निष्क्रिय मानी जाती है। जबकि वह ज्ञान तथा त्याग द्वारा समस्त क्रिया का परिहार करता है, तब भी शरीर पूर्व संस्कार की क्रमबद्ध प्रवृत्तियों के कारण जीवित रहता है। (तिष्ठति संस्कार-वशात् चक्र-भ्रमवद् धृत शरीरः)। यद्यपि आत्माएँ अनेक हैं तथापि उनको सामान्य अर्थ में एक वचन में पशु कहा जाता है।

मल, पाश में सम्मिलित माना जाता है अतः वह भिन्न पदार्थ नहीं है। शुद्ध आत्म चेतना, मल अथवा अशुद्धि से सर्वथा भिन्न है। तब मल किस प्रकार शुद्ध चेतना

---

[1] नाचित् चित् सन्निधौ किन्तु न वित्तस ते उभे मिथः।
प्रपञ्च-शिवमोर् वेत्ता यः स आत्मा तयोः प्रथक्॥

[2] शिवो ज्ञानाति विश्वकम्,
स्व भोग्य त्वेन तु परम् नैव जानाति किंचन।

[3] अनेक मलयुक्तो विज्ञान केवल उक्तः। सम्मूढ इत्यनेन प्रलयेन कलोदर उपसंहृतत्वात् सम्यक् मूढाः। पशुपति-पाश-विचार प्रकरण (अड्यार पुस्तकालय हस्तलेख)।

मातंग-परमेश्वर-तंत्र

शैव शास्त्र त्रिपदार्थ तथा अतुष्पाद के रूप में नहीं वरन् षट्पदार्थ यथा चतुष्पाद के रूप में वर्णित है। सदाशिव ने इसे पहले एक करोड़ पद्यों में लिखा था तथा अनन्त ने इसे एक लाख पद्यों में संक्षिप्त किया। तत्पश्चात् इसे तीन हजार पाँच सौ पद्यों में और भी अधिक संक्षिप्त कर दिया गया। छः पदार्थ इस प्रकार हैं:— (१) पति (२) शक्ति (३) त्रिपर्वा (४) पशु (५) बोध तथा (६) मंत्र।

शक्ति के द्वारा ही शक्ति के अधिकारी पति का अनुमान कर सकते हैं। अनुमान में हम कभी-कभी गुण के अधिकारी से गुण का तथा कभी-कभी कार्य से कारण का अथवा कारण से कार्य का अनुमान करते हैं। कभी-कभी किसी वस्तु का अस्तित्व "वेदों" के प्रमाण के आधार पर सत्य मान लिया जाता है। शिव के शरीर से, जो मंत्रों के रूप का है, बिन्दु के आकार में शक्ति नीचे की ओर उत्पन्न होती है, जो बाद में संसार रूप में विकसित हो जाती है।[1] शिव बिन्दु में प्रवेश करते हैं तथा उसको सृष्टि के भिन्न प्रकारों में प्रकट करते हैं। जीवों के कर्म तथा गुण में भिन्नता होने के कारण संसार में अनेकता है, जहाँ जीवों को धारण-कर्ता तथा कर्मों को धारणीय वस्तु के रूप में मान सकते हैं। जीव अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं तथा उन्हें शुभ अथवा अशुभ फलों को झेलना पड़ता है। ईश्वर संसार की सृष्टि, पालन तथा संहार का नियंत्रक है। वह संसार का निमित्त कारण है तथा शक्तियाँ उपादान कारण हैं, जो संसार की समवायी कारण मानी जा सकती हैं। यह संसार माया की उत्पत्ति है। जिस प्रकार सूर्य अथवा चन्द्रमा की किरणें पुष्पों को बिना किसी विघ्न के स्वतः खिलने के लिए प्रेरित करती हैं, उसी प्रकार शिव अपने सामीप्य से संसार को अभिव्यक्त करता है।

सात सहज मलों की निम्नांकित रूप में गणना की गई है—(१) मोह (२) मद (३) राग (४) विषाद (५) शोश (६) वैचित तथा (७) हर्ष।

कलाएँ माया से उत्पादित हैं तथा माया के संयोजन से वे अपना कार्य करती हैं, जिस प्रकार धान के बीज छिलकों के संयोजन से ही, जिनमें वे बन्द रहते हैं—अंकुर उत्पन्न कर सकते हैं।

जैसे-जैसे आत्माएँ संसार में से निकलती हैं वे कलाओं द्वारा सांसारिक वस्तुओं पर अनुरक्त हो जाती हैं, यह संयोजन, वासना द्वारा और भी अधिक दृढ़ हो जाता है, इस प्रकार आत्माएँ समग्र उपभोगों पर अनुरक्त हो जाती हैं तथा यह राग कहलाता है। समग्र अनुरक्तियों के साथ दुःख है, अतः इन्द्रिय सुखों से विरक्ति सुख की अत्युत्तम प्राप्ति की ओर ले जाती हैं।

---

[1] यहाँ परम्परागत विश्वास है कि मंत्र देवता के शरीर की रचना करते हैं।

एक कर्ता किसी पदार्थ को दो प्रकार से प्रभावित कर सकता है, या तो अपनी सरल कामना द्वारा अथवा अपने व्यवस्थित प्रयत्नों द्वारा, जैसे कि कुम्हार द्वारा घड़ा बनाने के दृष्टान्त मे। शिव, बिन्दु को केवल अपने संकल्प द्वारा गतिशील करता है। अतः उसमें परिवर्तन नहीं होता। कुम्हार की क्रिया के दृष्टान्त में भी शिव की इच्छा के द्वारा ही कुम्हार क्रिया कर सकता है। अतः शिव जीवित सत्ताओं अथवा निर्जीव पदार्थों की समग्र क्रियाओं का एक मात्र कर्ता है।

यह कहा जा सकता है कि शिव सर्वथा निरूपाधित है, अतः वह बिना किसी परिवर्तन के एकमात्र कर्ता रह सकते हैं। अन्य परिक्षात्मक उत्तर यह है कि शिव की उपस्थिति में बिन्दु बिना किसी कारण-क्षमता के कार्य आरम्भ कर देता है। (पुरुष की उपस्थिति में प्रकृति की गतिशीलता से तुलना कीजिए)।

कभी-कभी बिन्दु शांत्यतीत के रूप में वर्णित किया गया है तथा अन्य समय सृष्टि के उपादान कारण के रूप में। इस कठिनता की व्याख्या इस कल्पना पर की गई है कि बिन्दु का एक भाग शांत्यतीत है तथा अन्य भाग संसार का उपादान कारण होने के लिए उत्तरदायी है। बिन्दु तथा शिव से सम्मिलित तीसरा तत्व ईश्वर कहलाता है। केवल अपनी उपस्थिति द्वारा ही शिव बिन्दु में हलचल उत्पन्न करता है। इस प्रकार शिव केवल निर्जीवों की घटनाओं का ही निमित्त कारण नहीं है वरन् वह मानव शरीर के समग्र कर्मों के लिए उत्तरदायी है, जो मानव इच्छा शक्ति द्वारा उत्पादित प्रतीत होती है।

ज्ञान तथा कर्म मूलतः अभिन्न हैं तथा इसी कारण जब कर्म (व्यापार) होते हैं, हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि मानो हम इन कर्मो (व्यापारों) के कर्ता हैं। इस प्रकार कर्म का जो तत्व अपने को व्यक्त करता प्रतीत होता है, कर्म से कुछ अधिक है तथा यह अधिकारी-क्रिया कहलाता है। क्रिया तथा जिस पर क्रिया की जाती है, गुण-संकल्प के फल हैं। शिव चित्-शक्ति के रूप में स्थिर हैं, जो समग्र शक्तियों को गतिशील करता है। जिस प्रकार सूर्य दूर से कमल को बिना किसी वास्तविक बाधा के खिला देता है।

अपनी दार्शनिक स्थिति में पुनः स्पष्टीकरण के लिए शिव कहते हैं कि बिन्दु का एक भाग अतिक्रामी (शांत्यतीत) अवस्था में है, जबकि अन्य भाग सृष्टि क्रिया के लिए उत्तरदायी है। यह दूसरा तत्व अर्थात् बिन्दु का निम्न अर्थ भाग शिव द्वारा गतिशील किया माना जाता है। बहुधा शक्तियों का वर्गीकरण भिन्न नामों के अन्तर्गत भिन्न कार्यों में सम्पादन के रूप में होता है। शक्ति तथा शक्तिमान एक ही हैं। उनके पृथक कार्यों के अनुसार केवल उनका भिन्न वर्गीकरण किया गया है।

चेतन सत्ता की क्रिया अथवा हस्तक्षेप के बिना, निर्जीव संसार अक्रिय है। वह चेतन सत्ता भगवान शिव है। गाय के स्तन से दूध भी गाय की बछड़े के प्रति ममता

कि चेतना, आत्मा के रूप में बुद्धि में प्रतिबिम्बित नहीं हो सकती है, जो आध्यात्मिक मानी गई है। चेतना का बुद्धि में तथा बुद्धि का चेतना में परस्पर प्रतिबिम्ब का विचार भी अप्रत्याशित है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नित्य सत्ता के रूप में आत्मा, समग्र वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करती है तथा अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकती है। यदि तत्व के गुण स्थायी अथवा अस्थायी रूप में निहित हों, तब तत्व में यह निहितता यथास्थित स्थायी अथवा अस्थायी रूप में जो भी हो, होगी। अतः आत्मा की चेतना को प्राणी के अस्तित्व के साथ सहअस्तित्व मानना चाहिए। आत्माएँ अणु के आकार की होती हैं अतः पूर्ण शरीर में व्याप्त नहीं हो सकती। हमने पहले ही कहा है कि आत्मा अपने प्रकाशन में अन्य वस्तुओं का भी प्रकाशन करती है। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना होगा कि अग्नि के समान सत्ता अपनी शक्ति से विभिन्न नहीं की जा सकती।

पुनः प्रत्यक्षीकरण किए गए पदार्थ केवल अज्ञान नहीं कहे जा सकते, क्योंकि कोई केवल अज्ञान के साथ व्यवहार नहीं कर सकता, जिस प्रकार विना घड़े के कोई जल नहीं ला सकता। जिन वस्तुओं का हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं, वे वास्तविक सत्ताएँ हैं। यह अज्ञान प्रागभाव के अर्थ में नहीं लिया जा सकता क्योंकि तब इसका अर्थ ज्ञान के अन्य उद्गम से होगा, अथवा इसका स्पष्टीकरण अयथार्थ ज्ञान के रूप में किया जा सकता है। यह अशुद्ध ज्ञान आकस्मिक अथवा स्वाभाविक माना जा सकता है। यदि यह आकस्मिक अथवा स्वाभाविक है, तब यह किन्हीं कारणों के हेतु ही होगा, अतः इसको अशुद्ध ज्ञान नहीं माना जा सकता। यदि यह अशुद्ध ज्ञान केवल कदाचित् ही उदित होता है, तब यह यथार्थ ज्ञान का व्याघात नहीं कर सकता। साधारणतः कोई चाँदी की भ्रान्ति को शंख के ज्ञान का व्याघाती होने की आशा नहीं कर सकता है।[1] इसी कारण आत्मा, जिसका अनुभव साक्षात् सर्व-चैतन्य रूप में होता है, केवल सीमित ज्ञान रखती हुई नहीं मानी जा सकती। आत्माओं द्वारा प्राप्त सीमित ज्ञान का आभास अवश्य ही उनके मल से समागम के कारण होगा। चेतना की शक्ति नित्य है अतः उसके रूप में मल के समागम से बाधा नहीं डाली जा सकती, जो धर्म तथा अधर्म से उदित अनुभव का निर्माण कर सकता है। मल सात प्रकार के माने जाते हैं, तथा अपने में मद, मोह आदि की उत्तेजनाएँ सम्मिलित करते हैं। यह मल आत्माओं में स्वाभाविक माने जाते हैं। मोह का मल अनेक आकारों जैसे—पत्नी, पुत्र, धन आदि के प्रति अनुरक्ति में व्यक्त होता है।

केवल आध्यात्मिक ही अनाध्यात्मिक का व्याघात कर सकता है। दो आध्यात्मिक अथवा अनाध्यात्मिक सत्ताएँ परस्पर व्याघात नहीं कर सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा की व्याघाती नहीं हो सकती।

---

[1] किं चैतदन्यथा ज्ञानम् न सम्यग् ज्ञानबाधकम् —चतुर्थ पटल

यदि मलों का आत्माओं से समागम अनादि माना जाय तब वे किस प्रकार आत्मा के रूप का आवरण करेंगे, तथा इस आवरण का रूप क्या होगा ? यह नहीं कहा जा सकता कि इस आवरण का अर्थ, जो पहले से ही प्रकाशित है, उसको ढकना है, क्योंकि तब प्रकाश रूप सत्ता के प्रकाशन की दुर्बोधता का अर्थ इसका नष्ट करना होगा। इसका उत्तर है कि मलों द्वारा चित्त शक्ति का आवरण नहीं हो सकता। मल केवल उसका कार्य रोक सकते हैं।

शक्ति की परिभाषा अव्यवहित अनुभूति तथा क्रिया के रूप में की है। यदि ऐसा है तब शक्ति ज्ञेय वस्तुओं से सम्बन्धित है। तब वस्तुएँ किस प्रकार शक्ति से भिन्न हो सकती हैं ? उत्तर में यह कहा गया है कि अनुभूति ज्ञान तथा क्रिया (दृक क्रिया) अर्थात् शक्ति दृक तथा क्रिया के रूप में संयुक्त रहती है। वे एक में अविभाज्य सम्बन्धित हैं, तथा यह हमारे विचारने के लिए है कि हम उन्हें दृक तथा क्रिया में विभाजित समझें।[1] विशेष वस्तुओं का निर्देश करने वाले सभी शब्द दूसरों के लिए हैं तथा मल के आवरण में हैं। मल के दमन से, शक्ति इन्द्रिय पदार्थों की ओर से विमुख हो जाती है। इस प्रकार मल चिच्छक्ति के विरुद्ध कार्य करता है जिससे मल, आत्मा के सर्व-ज्ञाता स्वरूप को दुर्बोध कर देते हैं।

पाँचवे अध्याय में आगम भिन्न प्रकार के पाशों की व्याख्या करते हैं। यह पाश-कला, अविद्या, राग, काल तथा नियति हैं। यह पाँच तत्व माया से प्रवृत्त माने जाते हैं। चेतना स्वय इन कलाओं द्वारा दर्शाती है। चेतना, अनुभूति ज्ञान तथा कार्य शक्ति दोनों से सम्बन्धित है। आत्मा की चेतना को कलाएँ केवल आंशिक रूप में ही प्रतिबिम्बित करती हैं। यह प्रतिबिम्ब व्यक्ति के कर्मों के अनुरूप कार्यान्वित होता है।

ज्ञान शक्ति की क्रिया तथा ज्ञेय पदार्थों के कारण समग्र अनुभव होते हैं। विशिष्ट रूप में यह ग्राहक अथवा ग्राह्य कहलाता है। चेतना से समागम के द्वारा कलाएँ वस्तुओं को समझने का कार्य करती प्रतीत होती हैं। कला से विद्या आती है। कला काल तथा दिक् के रूप में अनुभव के आधार की पूर्ति करती है। तत्पश्चात् बुद्धि के अन्य तत्व भी विकसित होते हैं तथा हमें बुद्धि का प्रत्यय निश्चित निर्णय के रूप मे मिलता है। इस प्रकार भिन्न तत्व जैसे कि अहंकार अथवा अभिमान आदि उत्पन्न होते है। चेतना के अतिरिक्त, जो उन्हें उत्पन्न करती हैं, वे स्वयं में चेतन नहीं होंगे।

अपनी वासनाओं के अनुरुप बुद्धि अपने पृथक् आकारों में अभिव्यक्त होती है। उनकी पूर्ण गणना मूल ग्रन्थों में दी गई है परन्तु हम उन्हें छोड़ देंगे क्योंकि वे

---

[1] अविभागस्य भागोक्ती तद् विभाग उपाधितः। —चतुर्थ पटल

दार्शनिक महत्व के नहीं हैं। किन्तु उनमें विभिन्न सहज प्रवृत्तियों तथा भ्रांतियों का समावेश है जिनकी गणना सांख्य तथा अन्य स्थानों में की गई है।

कठिनाई यह है कि बुद्धि तथा अहंकार एक ही क्षेत्र की पूर्ति करते प्रतीत होते हैं। तब बुद्धि की अहंकार से भिन्नता किस प्रकार सम्भव होगी ? इसका उत्तर यह है कि जब कोई वस्तु निश्चित इस या उस रूप में ज्ञात होती है तब वह बुद्धि की अवस्था है। परन्तु अहंकार की अवस्था में हम ज्ञाता के रूप में व्यवहार करते प्रतीत होते हैं तथा हमारे दृष्टिकोण में आने वाली सभी वस्तुओं को हमारे ज्ञान के अंश का नाम दे दिया जाता है। ऐसी कोई विधि नहीं है जिससे एक जीव के अभिमान का भ्रम दूसरे के अभिमान से हो सके। इस प्रकार उनका साक्षात्कार एक दूसरे से भिन्न रूप में होता है।[1]

आगम तीन प्रकार की सृष्टि तथा तीन प्रकार के अहंकार से प्रवृत्त सात्विक, राजस्, तामस् के रूप में वर्णित करता है तथा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तन्मात्र तथा मनस् की उत्पत्ति का वर्णन करता है जबकि वस्तुओं का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण होता है तथा इस या उस रूप में उनका मूल्य आन्तरिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है, जिससे कि लाल नीले से विभिन्न किया जा सके, उस आन्तरिक क्रिया को मनस् कहते हैं।[2]

जब हम किसी जानवर को विशेष गुणों सहित देखते हैं तब हम शब्द के प्रयोग का विस्तार समान गुण वाले जानवर के निर्देश के लिए कर सकते हैं। जिस आन्तरिक क्रिया द्वारा यह होता है उसे मनस् कहते हैं।

आगम ज्ञानेन्द्रियों का, विशेष रूप से नेत्र की इन्द्रिय का, विस्तृत वर्णन देता है। केवल चेतना का सामीप्य क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता। इसकी उत्पत्ति केवल चेतना का इन्द्रियों से समागम होने पर ही हो सकती है।

आगम बौद्ध धारणा की आलोचना करता है तथा मानता है कि अर्थ-क्रिया-कारिता का बौद्ध सिद्धान्त तभी उचित हो सकता है जब सत्ताएँ क्षणिक न हों अपितु उनका काल-स्थायी अस्तित्व हो।

गुणों के विषय में कहते हुए आगम उनका स्वतन्त्र रूप अस्वीकार कर देते हैं। केवल जबकि कुछ गुण संयुक्त अवस्था में रहते हैं तब उन्हें हम वास्तविक गुण कहते हैं।

---

[1] यद्यभिन्नमहंकृत्स्याद्देवदत्तोऽप्यहं मतिः।
अन्यस्यामुपजायेत नात्मेकत्वं ततः स्थितम्। —षष्ठ पटल

[2] चक्षुशा लोचितेह्यर्थे तमर्थं बुद्धिगोचरम्।
विदधातीह यद्विप्रास्तन्मनः परिपठ्यते। —षष्ठ पटल

जिन वस्तुओं का अस्तित्व है उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वे सदैव उत्पादक हों। कार्य की उत्पत्ति सहायक कारणों पर निर्भर हो सकती है। जल-पात्र धागों द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता परन्तु धागे वस्त्र का टुकड़ा उत्पादन कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कार्य सदैव पहले से ही कारण में होता है।

यह भी नहीं माना जा सकता कि हमारी मानसिक अवस्थाएँ बाह्य पदार्थों से एक-रूप हैं, क्योंकि तब पदार्थों के अनुरूप हमारी ज्ञानात्मक अवस्थाओं की अनेकता का स्पष्टीकरण कठिन हो जायगा। हमारे लिए यह स्पष्ट करना संभव नहीं है कि किस प्रकार एक सत्ता कितने अधिक पृथक् आकारों में परिवर्तित हो सकती है। यही मार्ग बचता है कि कुछ बाह्य पदार्थों को स्वीकार कर लें, जिनसे हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है। इन पदार्थों में तन्मात्रों के पिंड हैं। तन्मात्रों के पिंडों में तथा इनके द्वारा नए गुण उदित होते हैं, जिन्हें हम भूतों का नाम देते हैं। तन्मात्रों तथा भूतों में यह भेद है कि प्रथम अधिक सूक्ष्म हैं तथा द्वितीय अधिक स्थूल हैं। यह विचार सांख्य के विचार से कुछ भिन्न है क्योंकि यहाँ पर भूतों को एक भिन्न तत्व नहीं माना है वरन् केवल तन्मात्रों का एक पिंड माना है। आगमों ने इस विचार का, कि गुण निश्चित वस्तुगत सत्ताएँ हैं, बार-बार खंडन किया है। इनके अनुसार गुणों का पिंड ही हमारे द्वारा स्वतंत्र सत्ता माना जाता है।

तब आगम अविभाजित परमाणु के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। यह माना जाता है कि अविभाजित परमाणुओं के पार्श्व नहीं हो सकते जिनमें अन्य परमाणु संयोजित हो सकें। प्रश्न यह उठता है कि तन्मात्र अमूर्त्त हैं इसलिए वे स्वयं समग्र आकारों का कारण नहीं हो सकते। अतः आकार-पूर्ण संसार हमें कारण के रूप में किसी भौतिक पदार्थ के अनुमान की ओर ले जाता है। इसका उत्तर शिव यह देते हैं कि प्रकृति को आकार से सम्पन्न तथा रहित भी माना जा सकता है।[1]

पुनः, शिव प्रश्नों के उत्तर में कहते हैं कि जिन वस्तुओं का आकार है उनके पास कारण के रूप में आकार-सम्पन्न सत्ताएँ अवश्य होनी चाहिएं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि परमाणु संसार के कारण हैं। उस स्थिति में कोई यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि परमाणु आकार-रहित हैं। इस विषय में पुनः तर्क करते हुए शिव कहते हैं कि परमाणु अनेक हैं तथा उनके अनेक भाग हैं। इस कारण वे उसी प्रकार के हैं जैसेकि अन्य कार्य, जैसे जल, पात्र आदि। इस प्रकार संसार का कारण कुछ ऐसी वस्तु को मानना होगा जो आकार-रहित हो। समग्र कार्य अनित्य हैं, आश्रित हैं, उनके भाग हैं, एवं अनेक हैं। अतः शैव मानता है कि उनका कारण

---

[1] मायातु परमा मूर्त्त नित्यानित्यस्य कारणम्,
ऐकानेकविभागाढ्या वस्तुरूपा शिवात्मिका। —षष्ठ पटल

भिन्न, स्वतन्त्र एव अविभाज्य होना आवश्यक है। अतः वह इस विचार को अस्वीकार कर देता है कि परमाणु संसार के उपादान कारण हैं।[1] स्थूल तत्व धीरे-धीरे पांच तन्मात्रों से विकसित हो जाते हैं।

आगम इस विचार का खंडन करता है कि आकाश केवल शून्यता है। यदि यह शून्यता होता तब अभाव रूप होता। किन्तु अभाव सदैव किसी भाव पदार्थ का होता है। आगम आकाश को किसी प्रकार का अभाव माने जाने की सम्भावना का खंडन करता है। शब्द आकाश का एक विशेष गुण माना गया है।

आगम कहता है कि वह केवल चार प्रमाण स्वीकार करता है : प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। वास्तव में यह समग्र शंकाओं-रहित शुद्ध चेतना है जो प्रमाणों में अन्तर्निहित सत्य का निर्माण करती है। शंका बुद्धि के दो ध्रुवों के बीच मन की दोलायमानता से उदित होती है। स्मृति उन पदार्थों की ओर संकेत करती है जिनका पहले अनुभव हो चुका है। किसी ज्ञान को उचित प्रमाणता की अवस्था प्राप्त करने के लिए उसका स्मृतिरहित तथा शकारहित होना आवश्यक है।

शुद्ध चेतना ज्ञान में वास्तविक वैध भाग है। बुद्धि क्योंकि स्वयं भौतिक वस्तु है इसलिए वह ज्ञान के वैध तत्व की निर्माता नहीं मानी जा सकती। कलाओं के तथा उनके द्वारा शुद्ध चेतना वस्तुगत संसार के सम्पर्क में आती है। यह प्रत्यक्षीकरण निर्विकल्प तथा सविकल्प हो सकता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण बुद्धि में जाति प्रत्यय अथवा नामों की ओर सकेत नहीं होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण में बिना नामों के संयोजन आदि के वस्तुएँ जैसी हैं उसी रूप में प्रत्यक्ष की जा सकती है।

प्रत्यक्षीकरण दो प्रकार का होता है। (१) ऐन्द्रिय माध्यम (२) अनैन्द्रिय माध्यम से, जैसे योगी का प्रातिभ ज्ञान। इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण क्रिया वस्तु अथवा आत्मा के बीच का आवरण हटा देता है जिससे वस्तुओं का साक्षात प्रत्यक्षीकरण हो सके। प्रत्यक्षीकरण के रूप का स्पष्टीकरण करने के लिए आगम स्पष्टीकरण के लिए न्याय की संयुक्त समवाय की युक्ति इत्यादि का अनुसरण करते है। न्याय के समान यह पाँच प्रकार के तर्क-वाक्यों : प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त उपनय तथा निगमन में विश्वास करता है।

वातुलागम[2]

अघर की टीका-सहित वातुलागम, मैसूर ओरियन्टल रिसर्च के वातुलागम के लगभग समरूप प्रतीत होता है, केवल इतना ही अन्तर है कि मैसूर के वातुलागम के

---

[1] ततो न परमाणूनां हेतुत्वं युक्तिभिर्मतम्। —षष्ठ पटल

[2] ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर।

दसवां तथा अन्तिम अध्याय में अधिक पद्य हैं जिनमें अन्य शैव सिद्धान्तों की अपेक्षा वीर शैव सिद्धान्त की अधिक प्रशंसा की गई है। परन्तु मौलिक आरम्भ लगभग सामान्य शैव सिद्धान्त के समान है जैसाकि अघोर शिवाचार्य की टीका के साथ तत्व-प्रकाशिका में प्राप्त हो सकता है। अनुमान के आधार पर अन्तिम सत्ता के रूप में शिव के अस्तित्व का अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति भी है जो शैव मत की सिद्धान्त-प्रणालियों, जैसे मृगेन्द्रागम अथवा लाकुलीप पाशुपत प्रणाली में मिल सकती है। वातुलागम का परिशिष्ट भाग वीर शैवों की लिंग धारणा के सिद्धान्त से परिचित कराता है परन्तु इसके विशेष दर्शन अथवा षट्स्थल से सम्बन्धित अन्य सिद्धान्तों के विषय में कुछ नहीं कहता।

वातुल-तंत्रम्[1]

शिव तत्व तीन प्रकार का है : (१) निष्कल (२) सकल तथा (३) निष्कल-सकल। शिव का दस प्रकार से भेद किया जा सकता है : (१) तत्व-भेद (२) वर्ण-भेद (३) चक्र-भेद (४) वर्ग-भेद (५) मंत्र-भेद (६) प्रणव (७) ब्रह्म-भेद (८) अंग-भेद (९) मंत्र-जात (१०) कील। यद्यपि पहले यह तीन प्रकार का कहा गया है तथापि इसके पुनः तीन आकार हैं (१) सुब्रह्मण्य शिव (२) सदाशिव (३) महेश।

शिव निष्कल कहलाते हैं जबकि उनकी सब कलाएँ अर्थात्, भाग अथवा अवयव या क्रियाएँ उनके भीतर एक में केन्द्रित होती है। निष्कलत्व के रूप की पुनः परिभाषा में लेखक कहता है कि जब शुद्ध तथा अशुद्ध तत्व, जो अनुभव में सहायता देते हैं, एक साथ संकलित हो जाते हैं तथा मौलिक कारण में मिश्रित हो जाते हैं तथा विश्व का विकास करने वाली शक्तियों के अंकुरित कारण के रूप में रहते हैं तब निष्कल अवस्था होती है। टीकाकार इस विचार का समर्थन अनेक मूल ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा करता है। सकल-निष्कल वह है जिसमें व्यक्ति के कार्य सुप्त अवस्था में रहते हैं तथा जब सृष्टि का समय आता है वह अपने को संसार के निर्माण के लिए विन्दु अवस्था में संयोजित कर लेता है। बिन्दु मायोपादान का प्रतिनिधित्व करती है जिससे शिव सृष्टि के हेतु अपने को संयोजित करते हैं।[2] शिव के ये भिन्न नाम सकल, निष्कल तथा सकल-निष्कल केवल शिव में भिन्न क्षण हैं तथा उनमें कोई वास्तविक रूपान्तर

---

[1] अद्यर पुस्तकालय हस्तलेख।

[2] महेशः सकलः विन्दु-मायोपादान-जनित-तनु-करणादिभिरात्मानं यदा शुद्धा-शुद्धभोगं प्रयच्छति तदा शिव-संगकः स एव भगवान् सकल इति उच्यते।

संकलित रचनाओं से हम भिन्न आगमों की विषय-सूची के विषय में अधिक जान सकते हैं। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि इनमें से कुछ आगम एक हस्तलेख के रूप में भी कदाचित् ही प्राप्त हैं।

इन आगमों की तिथि निश्चित रूप से स्थिर नहीं की जा सकती। यह प्रस्ताव दिया जा सकता है कि इनमें से सबसे प्राचीन दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी ईसवी में किसी समय लिखे गए थे तथा यह तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी तक प्रचलित रहे होंगे। अध्यात्मवादी तथा धार्मिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त उनमें योगाभ्यास विषयक आदेशों से सम्बन्धित भिन्न नाड़ियों के रूप सम्बन्धी विवरण भी हैं। प्रतिस्पर्धी विचारधाराओं जैसे बौद्ध, जैन तथा सांख्य से कुछ सामान्य वाद-विवाद भी हैं। परन्तु यह सब बहुत सामान्य हैं तथा इनका वस्तुतः प्रत्याख्यान हो सकता है। प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी विचारधारा में इनकी कोई वास्तविक सहायता नहीं है। हमारे पास एक ही प्रकार के अपरिवर्तनशील तत्व विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त तथा एक ही प्रकार के तर्क हैं जो सृष्टी से स्रष्टा की स्वीकृति या कार्यकारण की स्वीकृति की ओर ले जाते हैं। अतः स्पष्ट रूप में प्रकृति के या कभी-कभी अणु के रूप में परिणत उपादान कारण, निमित्त कारण रूप ईश्वर से भिन्न है। परन्तु केवल शिव को अनन्त सत्ता मानने के शुद्ध एक सत्तावादी विचार को स्थिर रखने के लिए इस उपादान कारण को प्रायः ईश्वर के समतुल्य शक्ति माना जा सकता है। कभी-कभी ईश्वर के पाश की शक्ति द्वारा जीवों के कर्मों के अनुसार उनके सम्मुख सम्पूर्ण सृष्टि आभास के रूप में वर्णित है। माया अथवा कर्म से प्राप्त भिन्न अशुद्धियों द्वारा सब जीव दूषित हैं। ये अशुद्धियाँ, अन्त में जब शैव दीक्षा ली जाती हैं तब, ईश्वर के अनुग्रह द्वारा नष्ट कर दी जाती हैं।

ये आगम भिन्न धार्मिक अभ्यासों तथा अनुशासन के विषय में आदेशों से तथा भिन्न प्रकार के नियम, कर्मकाण्ड, मंत्र, मन्दिर के निर्माण के विषय में आदेश अथवा भिन्न प्रकार की लिंग की स्थापना से परिपूर्ण है। किन्तु इन्हें शैव मत की प्रस्तुत व्याख्या में से पूर्ण रूप से हटाना होगा। यह देखना सुगम है कि आगमों का तथा-कथित शैव दर्शन शैव धार्मिक जीवन तथा अभ्यासों के समर्थन के लिए केवल तत्व-विज्ञान मूलक अवलम्ब मात्र है। जैसाकि हम माणिक्क वाचकर कृत तिरुवाचक में देख सकते हैं, इनमें अधिकांशतः भक्तों को शिव को पूर्णतः समर्पित होने तथा भक्ति के मादक उत्साह से पूर्ण नितान्त नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिलती है। इनमें भगवान शिव को जीवन के सम्पूर्ण समर्पण की प्रेरणा दी गई है।

कुछ अन्य विस्तृत वर्णन दिए हैं जो प्रस्तुत लेखक को वसव पुराण में नहीं मिल सके (जिसे स्वयं भंडारकर ने मूल माना है)।[1]

वसव पुराण श्रीपति पंडित के बाद के काल में लिखा गया था। यह कहा जाता है कि एक समय नारद ने शिव को सूचना दी कि जब अन्य धर्म सफल हो रहे हैं तब, कुछ अपवादों को छोड़कर, ब्राह्मणों में शैव पंथ की समाप्ति हो रही है अतः अन्य जातियों में भी इसका ह्रास हो रहा है। तब शिव ने नन्दी से वीर शैव पंथ को वर्णाश्रम आचार के अनुरूप लाने के लिए उन्हें अवतरित होने को कहा।[2] यदि इस कथन का कुछ महत्व है तब यह स्वीकार करना होगा कि श्रीपति पंडित के उत्तरकाल में भी वीर शैव पंथ को कर्नाटक प्रदेश में कोई महत्ता प्राप्त नहीं थी। इससे यह भी विदित होता है कि वीर शैव पंथ का उद्देश्य हिन्दू प्रणाली की जातियों तथा जाति-धर्मों के विरुद्ध उपदेश देना नहीं था। यह माना जाता है कि वसव ने जाति तथा जाति-प्रथाओं तथा कुछ अन्य हिन्दू रीतियों को हटाने के लिए समाज-सुधार प्रारम्भ किए। किन्तु इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनेक वीर शैव रचनाओं में हम हिन्दू जाति-प्रथा के प्रति भक्ति पाते हैं। शिव के उन अनुयायियों में जो वसव के साथ, अवश्य ही भ्रातृभाव के निर्माण करने की प्रवृत्ति मिलती है, क्योंकि वह राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों ही रूपों में शिव के अनुयायियों का संरक्षक था। वसव पुराण यह भी कहता है कि वसव को आठ वर्ष की आयु में ब्राह्मणों की अनिवार्य दीक्षा की प्रथा के अनुसार यज्ञोपवीत संस्कार के लिए पंडितों की मंडली में ले जाया गया था। किन्तु वसव ने उस अल्प आयु में भी दीक्षा के संस्कार का इस आधार पर विरोध किया कि यज्ञोपवीत न आत्मा को और न शरीर को शुद्ध कर सकता है तथा पौराणिक वर्णनों में ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं जिनमें महान् यशवान सन्तों ने यज्ञोपवीत नहीं लिया। हमें वसव का ऐसा कोई भी वर्णन नहीं मिलता है जिसमें उन्होंने हिन्दू प्रथाओं अथवा विधियों अथवा ब्राह्मण मत के विरुद्ध धर्मयुद्ध का उपदेश दिया हो।

वसव के अपने लेख कन्नड़ भाषा में उक्तियों अथवा ध्यान के निष्कर्षों के रूप हैं, जैसाकि सामान्य रूप से शैव मत, वैष्णव मत आदि के अन्य पन्थों के भक्तों में पाया जाता है। प्रस्तुत लेखक को इनमें से बहुत से कथनों का अंग्रेजी अनुवाद पढ़ने का अवसर मिला है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है उनमें भगवान शिव के प्रति आनन्द पूर्ण उत्साह है जो वसव के सम्मुख भगवान कुडल संगम के रूप में प्रकट हुए। ये उक्तियाँ शिव का महाप्रभु के रूप में उल्लेख करती हैं तथा स्वयं वसव को

---

[1] देखिए भंडारकर कृत वैष्णवमत तथा शैवमत, पृ० १३२।

[2] वर्णाचारानुरोधेन शैवाचरण प्रवर्तय। —वसव-पुराण, अ० २, पृ० ३२।

उनके सेवक अथवा दास के रूप में निरूपित करती हैं। यहाँ-वहाँ उनमें कुछ जीवन-चरित्र सम्बन्धी संकेत मिलते हैं जिनका पुनः निर्माण तत्कालीन प्रमाण की सहायता के अतिरिक्त नहीं हो सकता। जो कुछ वसव के कथनों से अनुमान किया जा सकता है उसके आधार पर वसव द्वारा वीर शैव विचार का संस्थापित अथवा क्रमबद्ध निश्चित वर्णन देना सम्भव नहीं है। वसव पुराण के अनुसार लिंग धारण की प्रथा वसव से पूर्व ही प्रचलित प्रतीत होती है। वसव षड्स्थल सिद्धान्त के विषय में स्वयं कुछ नहीं कहते तथा यह दो अनिवार्य रूप से आवश्यक विषय हैं, जिनसे कि इसे इसकी दार्शनिक विशेषता के अतिरिक्त शैवमत के अन्य पंथों से स्पष्ट रूप में पृथक् किया जा सकता है। इस पर भी वसव ऐसी कोई निश्चित विचारप्रणाली सूचित करते प्रतीत नहीं होते जिसे उत्तरकालीन वीर शैव लेखकों के विचारों द्वारा शेष पूर्ति अथवा पुर्रचना किए बिना क्रमबद्ध किया जा सके। यद्यपि वीर शैव दर्शन का मुख्य भाग ईसा काल की प्रथम शताब्दियों में प्राप्त किया जा सकता है तथा यद्यपि हम छठी शताब्दी ईसवी की सूत-संहिता जैसी रचनाओं में प्रचलित पाते हैं तथापि हम यह नहीं जानते कि किस प्रकार इस विचार धारा को 'वीर शैव' नाम दिया गया।

वसव तथा श्रीपति के कालों के मध्य में किसी समय रेवणाचार्य द्वारा लिखी गयी सिद्धान्त शिखामणि रचना में हम 'वीर शैव' नाम को स्थल सिद्धान्त से संबंधित पाते हैं तथा सम्भवतः प्राप्त साहित्य में यही इस शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग है। सिद्धान्त शिखामणि में वसव के विषय में उल्लेख है तथा स्वयं इस पुस्तक का उल्लेख श्रीपति ने किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह पुस्तक वसव तथा श्रीपति के कालों के मध्य में लिखी गई होगी। सिद्धान्त शिखामणि में "वीर" शब्द की बहुत रोचक व्याख्या इसकी व्युत्पत्ति दी गयी है, उसके अनुसार "वि" अर्थात् ब्रह्म से अभेद का ज्ञान, तथा "र" अर्थात् ऐसे ज्ञान से जनित आनन्द से है। यदि इसे उचित भी मान लें तब भी ऐसी शब्द-व्युत्पत्ति "वीर" नहीं "विर" बनेगा। "विद्या" का "वि" किस प्रकार दीर्घ "वी" हो जायगा, इसकी कोई व्याख्या नहीं दी है। अतः मेरे लिए यह स्वीकार करना कठिन है कि यह शब्द-व्युत्पत्ति विषयक व्याख्या "वीर" शब्द के "वीर शैव" में प्रयोग का समर्थन करती है। इसके अतिरिक्त वेदान्ती विचारधारा की अनेक पद्धतियां इस व्याख्या के अनुसार वीर कहला सकती हैं क्योंकि अनेक प्रकार के वेदान्त सच्चे तादात्म्य ज्ञान से सुख तथा आनन्द का अनुभव करेंगे। अतः "वीर" शब्द कोई विशेष चिह्न नहीं है जिससे हम वीर शैवों को अन्य धर्मों के अनुयायियों से विभिन्न कर सकें। अनेक आगमानुयायी शैव भी जीवों की ब्रह्म अथवा शिव से अभिन्नता में विश्वास करेंगे। अतः मैं यह प्रस्ताव करने का साहस करूँगा कि वीर शैव अपने मत के अनुमोदन में आक्रमणात्मक अथवा सुरक्षा की वीर प्रवृत्ति के कारण वीर कहलाते थे।

शैव संदर्भ में हमारे पास कम से कम दो धार्मिक दृष्टान्त हैं। जैसेकि एक चोल राजा कोलुतंग प्रथम ने रामानुज के दो शिष्य, महापूर्ण तथा कुरेश के नेत्र निकलवा दिए थे क्योंकि उन्होंने शैव मत में धर्म-परिवर्तन करना अस्वीकार कर दिया था। इसी प्रकार की कथा बसव के जीवन में भी आती है जहाँ उनके दो शिष्यों के नेत्र विज्जल ने निकलवा दिए थे तथा स्वयं विज्जल का वध बसव के अनुयायियों ने किया था। ये केवल कुछ ही दृष्टान्त हैं जहाँ धर्म के प्रचार अथवा धार्मिक प्रतिहिंसा के लिए अहिंसा का आश्रय लिया गया था। मैं समझता हूँ कि कुछ शैवों की झगड़ालू प्रवृत्ति ने, जिन्होंने जाति-नियम तथा प्रथाएँ अस्वीकार कीं तथा जो शैव मत के उत्साही अनुयायी थे, उनको वीर शैव का नाम दिलाया। सिद्धान्त शिखामणि भी बसव के उस विचार का उल्लेख करती है जो शिव की निन्दा करते हैं उनका वध हो जाना चाहिए।[1] धर्म के लिए ऐसी झगड़ालू प्रवृत्ति कदाचित् ही अन्य धर्मों तथा धार्मिक पंथों में पाई जाती है। उपरोक्त संदर्भ में सिद्धान्त शिखामणि नवें अध्याय में इंगित करती है कि यद्यपि वीर शैवो को स्थावर लिंग की भेंट से भाग लेने का निषेध है तथापि यदि इस चिह्न को नष्ट होने का अथवा बाधा का भय हो तब हिंसात्मक आक्रमणों को रोकने के लिए एक वीर शैव को अपने जीवन को भी संकट में डाल देना चाहिए।

हमारे ऊपर के परामर्श से यह जानने में बहुत सहायता नहीं मिलती कि वीर शैव दर्शन में अथवा षड्स्थल तथा लिंग-धारण की क्रियाविधि में बसव का क्या योगदान रहा है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के शैवों को, जो उनके सम्पर्क में आए, धार्मिक उत्साह द्वारा अथवा अपनी आर्थिक तथा अन्य प्रकार के संरक्षण के कारण बहुत अधिक भावात्मक उत्साह की प्रेरणा दी होगी। बसव पुराण से ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के भक्तों को उन्होंने जो आर्थिक सहायता दी वह अविवेकपूर्ण थी। उनका धन सब शैवों पर वर्षा की बौछार के समान बरसता था। सम्भवत: इसी ने उन्हें तत्कालीन शैवों का सबसे अधिक शक्तिशाली संरक्षक बना दिया तथा उनमें से चुने हुओं से उसने एक विद्वात् सभा की स्थापना की जहाँ धार्मिक समस्याओं पर सजीव वाद-विवाद होते थे। इन सभाओं की अध्यक्षता वह स्वयं करता था।

---

[1] अथ वीर भद्राचर-बसवेश्वरचारं सूचन्भक्ता—चारभेदंद प्रतिपादयति—

शिवनिन्दा-करंदृष्टवा घातयेदथवा शपेत्,
स्थानं वा तत् परित्यज्य गच्छेद्यदि अक्षमो भवेत्

(सिद्धान्त-शिखामणि —अध्याय ९ पर पद्य २६)।

इस संदर्भ में पुन: यह कहा गया है :

ननु प्राणत्यागे दुर्मरणं किं न स्यात्,
शिवार्थं मुक्त जीवश्सच्छिव-सायुज्यं आप्नुयात् ॥

प्रस्तुत लेखक का अनुमान यह है कि वीर शैव विचार का मुख्य भाग उपनिषदों के समान प्राचीन है तथा यह पर्याप्त व्यवस्थित रूप में कालिदास की कृतियों में भी परोक्षत: व्यक्त हुआ है, जो कि ईसा संवत् की आरंभिक शताब्दियों में हुए।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि स्कंद पुराण का एक भाग सूत संहिता ऐसे दर्शन की शिक्षा देती है जिसकी उसी प्रकार की व्याख्या की जा सकती है जैसीकि श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीर शैव दर्शन की है, यद्यपि टीकाकार शंकर के दर्शन के अनुरूप उसकी व्याख्या करते हैं। सूत संहिता ने आगम साहित्य को, जैसे कामिक आदि को, उच्च स्थान दिया है जिससे ज्ञात होता है कि इसका आगमी शैव मत से निकट संबंध था।[2]

परन्तु यह कहना कठिन है कि किस समय वीर शैव पंथ की स्थापना हुई तथा कब इसको यह विशेष उपाधि मिली। वीर शैवमत अपने दर्शन तथा स्थल-सिद्धान्त में, तथा विशेष प्रकार के लिंग-धारण की कुछ अन्य धार्मिक क्रियाओं में आगमी शैव मत तथा पाशुपत मत से भिन्न है। यह दुर्भाग्य की बात है कि वीर शैवमत का सबसे पहला उल्लेख सिद्धान्त शिखामणि में मिलता है जो कि संभवत: तेरहवीं शताब्दी की रचना है। 'वीर शैव गुरु परम्परा" नामक एक लघु पांडुलिपि में निम्नलिखित शिक्षकों के नाम प्राथमिकता-क्रम में इस प्रकार दिए गए हैं: (१) विश्वेश्वर गुरु (२) एकोराम (३) वीरेश्वराध्य (४) वीर भद्र (५) विरणाराध्य (६) मणिका-राध्य (७) वच्चय्याराध्य (८) वीर माल्लेश्वराराध्य (९) देशिकाराध्य (१०) वृषभ (११) अक्षक (१२) मुख लिंगेश्वर। वीर शैवागम[3] के आठवें पटल में यह कहा है कि चार पीठों अर्थात् योग पीठ, महापीठ, ज्ञानपीठ तथा सोमपीठ में चार शिक्षक थे जो वरिष्ठता में भिन्न थे। ये थे—रेवण, मरूल, वामदेव[4] तथा पंडिताराध्य। ये नाम पौराणिक स्वरूप के हैं क्योंकि कहा गया है कि इनका उल्लेख वेदों में भी हुआ है। किन्तु उपरोक्त जिन नामों को हमने वीर शैव गुरु परम्परा से उद्धृत किया है, वे शिक्षकों की एक अनुक्रमात्मक सूची का निर्माण करते हैं जो पांडुलिपि के लेखक के काल तक आती हैं।[5] शिक्षकों की अनुक्रमात्मक सूची के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सिद्धान्त शिखामणि में उल्लिखित वीरभद्र के अतिरिक्त, उन शिक्षकों के

---

[1] देखिए लेखक की संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग १, पृ० ७२।

[2] सूत-संहिता, यज्ञ-वैभव-खंड, अध्याय २२ पद्य २ व ३। अध्याय २०, पद्य २२, अध्याय ३९, पद्य २३ भी देखिए।

[3] मद्रास-पांडुलिपि।

[4] एक अन्य पाठ रामदेव है (आठवां तथा नवां पटल)।

[5] अस्मादाचार्य-पर्यन्तं वन्दे गुरु-परम्पराम् (मद्रास-पांडुलिपि)।

विषय में संकेत अथवा उनके लिखे किसी शास्त्र द्वारा, हम कुछ भी नहीं जान सकते।[1] हम यह नहीं कह सकते कि वीरभद्र सिद्धान्त शिखामणि के लेखकों से कितने पूर्व हुए। परन्तु क्योंकि वीरभद्र का उल्लेख एक ही संदर्भ में वसव के साथ किया गया है, हम यह अनुमान कर सकते हैं कि यह वीरभद्र वसव से बहुत पहले का नहीं हो सकता। अतः यदि हय निस्संदिग्ध रूप से यह ग्रनुमान कर सकते हैं कि वीरमद्र बारहवीं शताब्दी में किसी समय वर्तमान था तब हमें केवल वीरभद्र से पूर्व के तीन आचार्यों के समय की गणना करनी है। गणना की साधारण विधियों के अनुसार तीन ग्राचार्यों का शिक्षण काल हम सौ वर्ष रख सकते हैं। इसका अर्थ होगा कि वीर शैवमत पंथ के रूप में ग्यारहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। यह सम्भव है कि इन शिक्षकों ने द्रविड़ भाषा में लिखा अथवा उपदेश दिया हो जिसे उन व्यक्तियों ने ही समझा होगा जिनके मध्य उन्होंने उपदेश दिया होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि क्यों कई संस्कृत पुस्तकें उनके द्वारा लिखी गई प्राप्त नहीं हैं। सम्भवतः वसव अत्यधिक बुद्धिमान एवं भावात्मक विचारक था जिसने अपने उद्‌गार कन्नड़ भाषा में व्यक्त किए।

परन्तु वीर शैव आचार्यों की अनुक्रमात्मक सूची हमारी की व्याख्या के विषय में अब भी बहुत कुछ कहना शेष है। यह शिक्षकों की उन अन्य परंपराओं के विषय में कुछ भी व्याख्या नहीं करती जिनके विषय में हम इधर-उधर किंवदन्तियों के रूप में सुनते हैं; जैसे अगस्त्य को शैव मत के प्रथम संस्थापक के रूप में सुनते हैं। हम यह भी देखते हैं कि प्राचीनकाल में किसी समय किसी रेणुकाचार्य ने अन्य वीर शैव रचनाओं के विचारों पर आधारित रेणुक सिद्ध तथा अगस्त्य के पौराणिक संवाद का अभिप्राय देते हुए सिद्धान्तशिरोमणि नामक रचना लिखी। रेणुकसिद्ध रेवणसिद्ध भी कहलाता था तथा यह अनुमान किया जाता है कि कलि-काल के आरम्भ में उन्होंने अगस्त्य को वीर शैव शास्त्र का स्पष्टीकरण किया। बाद में हमें एक सिद्ध रामेश्वर मिलता है जो वीर शैव के सिद्धान्त में निष्णात था, उसकी विचारधारा में हमें शिव-योगीश्वर नामक व्यक्ति मिलता है, जिसने परम्परागत रेणुक तथा अगस्त्य के संवाद का अनुमानित तात्पर्य अन्य प्रासंगिक साहित्य की शिक्षाओं द्वारा शेष पूर्ति करते हुए हमें दिया। सिद्ध रामेश्वर के परिवार में एक महान् शिक्षक मुद्‌देव ने जन्म लिया था। उसके एक सिद्धनाथ नामक पुत्र था जिसने 'शिव सिद्धान्त निर्णय' नामक रचना में आगमों का अभिप्राय लिखा। तत्कालीन अन्य आचार्य उन्हें वीर शैव आचार्यों में से अत्यन्त मुख्य मानते थे (वीर शैव शिखारत्न) तथा रेणुकाचार्य ने, जो अपने को शिव योगिनी भी कहते थे, सिद्धान्त शिखामणि रचना लिखी। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेणुकाचार्य से पूर्व उन वीर शैव आचार्यों की एक लम्बी सूची थी जो सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। यदि हम इसको न भी मानें तब भी सिद्धान्त

---

[1] सिद्धान्त-शिखामणि। अध्याय ६, छत्तीसवें पद्य की अवतरणिका।

शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य कहते हैं कि उन्होंने यह रचना कामिकागम से वातुलागम तक के शैव तंत्रों तथा पुराणों से निर्देशन लेते हुए शिव के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए लिखी। पुनः, वे कहते हैं कि शिव-तंत्रों में वीर शैव तंत्र अन्तिम है अतः यह सबका सार है।[1]

परन्तु सिद्धान्त-शिखामणि में व्याख्या किए गए वीर शैव दर्शन का वास्तविक सार क्या है? यह कहा जाता है कि ब्रह्म सत् आनन्द तथा चित् का तादात्म्य है तथा आकार एवं भेद-रहित है। यह असीम है तथा सब प्रकार के ज्ञानों से परे है। यह स्वयं प्रकाश है तथा ज्ञान, वासना एवं शक्ति के अवरोध से सर्वथा रहित है। उसमें ही हमारी इन्द्रियों से अज्ञात सम्भावित रूप में चित् तथा अचित् संसार रहता है तथा उसी से सम्पूर्ण संसार बिना किसी निमित्त क्रिया के अपनी अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन करता है। इसका अर्थ है कि जब ईश्वर की इच्छा होती है तब वह अपने स्वयं के आनन्द से अपने को विस्तृत करता है जिससे संसार प्रकट होता है जिस प्रकार ठोस मक्खन अपने को विस्तृत कर तरल अवस्था में कर लेता है। शिव के गुण अप्राकृत हैं। सत्, चित् तथा आनन्द का स्वरूप शक्ति है। किन्तु यह आश्चर्यजनक है कि इसमें पूर्णाद्वैतवादी तथा निर्वयक्तिक दृष्टिकोण के साथ-साथ यह अवधारणा भी है कि भगवान शिव में संकल्प शक्ति है जिससे वे संसार की सृष्टि व संहार करते हैं। जैसा कि हमें आगे देखने का अवसर मिलेगा, षड्स्थल का सम्पूर्ण सिद्धान्त जो कि वीर शैव विचारधारा का सारभूत है, इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथा संसार को ईश्वर में स्थित एवं उससे अभिन्न समझना चाहिए। अवश्य ही ऐसे अनेक शब्द हैं जो एक प्रकार का भेदाभेद विचार सूचित करते हैं परन्तु यह भेदाभेद अथवा एकता में भेद, वृक्ष, उसके पुष्प तथा फलों में भेदाभेद के प्रकार का नहीं है क्योंकि ऐसा विचार शिव के स्वरूप में रूपान्तरण अथवा परिवर्तन प्रस्तावित करेगा। भेदाभेद की व्याख्या उस विचार से करनी होगी जिसमें सर्वातिशायी ईश्वर उन पदार्थों के आकार में भी प्रतीत होता है जिनका हम प्रत्यक्षीकरण करते हैं तथा जो हमारे अपने स्वरूप जैसा है।

"सिद्धान्त शिखामणि" आगमों पर आधारित थी। अतः उसका दार्शनिक दृष्टिकोण अस्थिर स्वभाव का था जैसा हम विभिन्न आगमों में पाते हैं। जैसे कि सिद्धान्त शिखामणि के अध्याय ५ पद्य ३४ में यह कहा गया है कि ब्रह्म रूप तथा गुण-रहित है परन्तु अविद्या से अपने अनादि सम्बन्ध के कारण यह जीवों के रूप में प्रकट होता है। इस अर्थ में जीव ईश्वर का केवल एक अंश है। किन्तु अन्यत्र इसी में लिखा है कि ईश्वर समस्त जीवित प्राणियों का प्रेरक तथा नियंता है। दूसरे श्लोक में कहा गया

---

[1] सिद्धान्त शिखामणि, अध्याय १ पद्य ३१–२।

है कि ब्रह्म एक ही समय में ईश्वर तथा प्राणियों की आत्मा दोनों है। शुद्ध शिव में सत्व, रजस्, तमस् कोई गुण नहीं है।[1] किन्तु पुनः, इसमें वेदान्त के इस विचार की ओर झुकता है कि जीव, संसार के पदार्थ तथा परम नियंता ईश्वर शुद्ध चैतन्य अथवा ब्रह्म पर केवल अध्यास हैं।[2] सिद्धान्त शिखामणि 'अविद्या' तथा 'माया' का वही रूप स्वीकार करती है जो शंकर के अनुयायियों ने किया। अविद्या से सम्बन्ध के कारण ही भिन्न प्रकार के जीव हैं तथा माया से सम्बन्ध के कारण ब्रह्म सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान प्रतीत होता है। अविद्या के कारण जीव ब्रह्म से अपनी अभिन्नता का साक्षात्कार नहीं कर सकता तथा जन्म एवं पुनर्जन्म के चक्र में से होकर निकलता है।

एक और विषय ध्यान देने योग्य है। पंतजलि के योग सूत्र में यह कहा गया है कि हमारे जाति, आयु और भोग का स्वरूप हमारे कर्म द्वारा निश्चित होता है, तथा कर्म-विपाक का नियम रहस्यमय है। परन्तु कर्म के फल स्वतः ही होते हैं। पाशुपतों तथा नैयायिकों ने इस विचार का केवल रूपान्तर किया है, जो उन्हीं के समाज के हैं। यह ध्यान देना रोचक है कि सिद्धान्त शिखामणि ने इस विचार का अनुकरण पाशुपतों से किया है जो यह मानते हैं कि कर्म-विभाजन का प्रबन्ध तथा नियंत्रण ईश्वर द्वारा होता है। अतः "सिद्धान्त शिखामणि" हमारे सम्मुख सारसंग्रही विचार रखती हुई प्रतीत होती है जो अस्थिर है तथा अभी तक निर्माण की अवस्था में है। इससे ग्रन्थकार द्वारा उन विचार-तथ्यों के अव्यवस्थित संकलन का स्पष्टीकरण होता है जो पाशुपत सिद्धान्त, परिवर्तनशील आगम सिद्धान्त, सांख्य के प्रभाव तथा अन्त में शंकर के अनुयायियों में वेदान्त से प्राप्त किए हैं। इस कारण तेरहवीं शताब्दी में बसव के समय में हम दार्शनिक प्रणाली के रूप में विशेष रूप के क्रमबद्ध वीर शैव दर्शन की आशा नहीं कर सकते। हमारे लिए यह दिखाना सुगम होगा कि बसव के शिक्षक अल्लमप्रभु शंकर के वेदान्त मत के सम्प्रदाय से प्रभावित थे।

शंकर के एक शिष्य आनंदगिरि ने "शंकर विजय" में शिव के विभिन्न प्रकार के भक्तों का विस्तृत वर्णन दिया है जो अपने वाह्य चिह्नों द्वारा परस्पर भिन्न किए जा सकते हैं। शंकर स्वयं केवल उन पाशुपतों तथा शैवों के विषय में लिखते हैं जिन्होंने सिद्धान्तों तथा आगमों का वर्णन किया, जिसमें भगवान शिव उपादान कारण (जिसमें संसार का निर्माण हुआ है) से भिन्न निमित्त-कारण के रूप में वर्णित हैं।

---

[1] गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी,
तद्वैषम्यात् समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तु त्रयाभिधा।
—सिद्धान्त-शिखामणि, अध्याय ५ श्लोक ३९।

[2] भोक्ता भोज्यं प्रेरतिया वस्तुत्रयमिदं स्मृतं,
अखंडे ब्रह्म चैतन्ये कल्पितम् गुण भेदतः। —वही, अध्याय ५, श्लोक ४१।

शंकर के सूत्र २-२-३७ पर भाष्य की अपनी टीका भामति में वाचस्पति शिव के चार प्रकार के अनुयायियों के विषय में लिखते हैं। इनमें से हमें शैवों तथा पाशुपतों का यथेष्ठ साहित्य मिला है तथा हम यह प्रस्ताव करने का साहस कर सकते हैं कि कारुणिक सिद्धान्त भी आगमी शैव विचारधारा के अनुरूप ही थे। परन्तु रामानुज के भाष्य के उसी सूत्र में उल्लिखित कापालिकों तथा कालमुखों का हमें कोई साहित्य प्राप्त नहीं हो सका है। सूतसंहिता में कामिक तथा अन्य आगमों, कापालिकों, लाकुलों, पाशुपतों, सोमों तथा भैरवों जिनके भी आगम थे, के नाम हमें मिलते हैं। ये आगम अनेक पंथों तथा संप्रदायों की शाखाओं में विभाजित हो गए।[1] अन्वेषण से हमें यह ज्ञात होता है कि लाकुल तथा पाशुपत एक ही थे तथा हमारे पास इस विषय में 'सर्वदर्शन संग्रह' के लेखक माधव का प्रमाण है। सम्भवतः सूतसंहिता छठी शताब्दी ई० की रचना है जबकि माधव की रचना चौदहवीं शताब्दी की है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपत लाकुलों से पूर्व काल के थे। न शंकर और न वाचस्पति ही लाकुलीशों को पाशुपतों के समान बताते हैं। परन्तु चौदहवीं शताब्दी से कुछ समय पूर्व लाकुलीश तथा पाशुपत सयुक्त हो गए थे तथा बाद में एक प्रणाली के रहे, जैसाकि हम देखते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के अप्पय दीक्षित ने अपनी टीका वेदान्तकल्पतरुपरिमल में इन्हें एक ही माना है। परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि छठी शताब्दी ईसवी से बहुत पूर्व, जो संभवतः सूतसहिता की तिथि है, लाकुलों के अपने आगम थे। हमें भैरवों के उल्लेख मिलते हैं। भैरव नाम शिव के अधिष्ठाता पुंस्-पक्ष को दिया गया है और दक्ष-पुत्री तथा शिव की अर्धांगिनी शक्ति स्त्री-लिंग की प्रतीक है। परन्तु हमें ऐसा कोई आगम प्राप्त नहीं हो सका जिसमें कि भैरव-संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त का विवरण हो, यद्यपि हमें भैरव के आनुष्ठानिक उल्लेख मिले हैं। सूत संहिता भी आगमी ऋषि, जैसे श्वेत, का उल्लेख करती है। इन अट्ठाइस ऋषियों में प्रत्येक के चार शिष्य थे, जिससे कि संख्या ११२ हो गई। इनका उल्लेख सूत संहिता (खंड ४, अध्याय २१, श्लोक २–३) में भी है जहाँ कि शरीर पर भस्म मले हुए तथा रुद्राक्ष की माला पहने हुए इनका वर्णन किया गया है। इतने प्राचीन काल में इतने अधिक शैव सन्तों का होना स्वाभाविक रूप से शैव मत की प्राचीनता दर्शाता है। ये शैव सन्त वर्णाश्रम धर्म के प्रति भक्ति रखते हुए प्रतीत होते हैं।

संभवतः तेरहवी शताब्दी के एक उत्तरकालीन वीर शैवागम नामक आगम में चार प्रकार की प्रणालियों में शैव, पाशुपत, वाम तथा कुल के विषय में उल्लेख है। शैव पुनः सौम्य तथा रौद्र में विभाजित हैं। सौम्य पांच प्रकार के हैं जिनमें पिशाच विद्या तथा जादू निवारण के रूप में सम्मिलित हैं। शैव सम्प्रदाय दक्षिण कहलाता है

---

[1] सूतसंहिता ४, वज्र-वैभव खंड, अध्याय २२ श्लोक २–४।

तथा शक्ति का पंथ वाम कहलाता है। वाम तथा दक्षिण को संयुक्त करके एक सम्प्रदाय माना जा सकता है। केवल शिव से संबंधित सिद्धांत शास्त्र शुद्ध शैव कहलाता है। किन्तु एक और मत है अथवा वस्तुतः एक मत के तीन सम्प्रदाय, दक्षिण, कालमुख तथा महाव्रत नामक हैं।[1] भंडारकर ने सुझाया है कि कालमुख तथा महाव्रतधारी एक ही और अभिन्न हैं। सिद्धांत पुनः तीन मतो में विभाजित हैं—आदिशैव, महाशैव तथा अन्तशैव। शैव मत की ये प्रतिशाखाएँ पाशुपत शैवमत से उत्पन्न हुई हैं। वीर शैवागम के लेखक कहते हैं कि शैव मत ने असंख्य प्रकार के विचार सम्प्रदायों अथवा भक्तों के समुदाय में अपना प्रसार कर लिया था तथा उनके पास उनकी स्थिति का पोषक विशाल साहित्य था।[2] ये सब सम्प्रदाय, यदि उनका कोई साहित्य था तो अपने उस समस्त साहित्य के साथ अब प्रायः नष्ट हो गए हैं।

उसी आगम के प्रमाण से यह प्रतीत होता है कि वीर-शैवमत प्राचीन शैवों का अंग नहीं था; परंतु यह एक सैद्धांतिक सम्प्रदाय के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसमें मठों (धर्मस्थानों) में चार लिंगों पट्स्थल के रूप में शिव की पूजा तथा उनके विशेष कर्मकांड एवं पद्धतियों को अपनाया। यह विचार ठीक हो सकता है क्योंकि शैव मत पर किसी भी पूर्वतर रचना में हम वीर शैव को एक विचार-प्रणाली के रूप में नहीं पाते हैं। हस्तलेखों में मुकुटागम, सुप्रभेदागम वीरशैवागम, आदि अनेकों वीरशैवागम हमें उपलब्ध हैं। परन्तु वीर-मैव सारोद्धार नाम से भी अभिहित, सोमनाथ के भाष्य से युक्त बसव-राजीय (हस्तलेख) के अतिरिक्त उनमें से किसी ने भी बसव अथवा वीर शैव दर्शन का भी उल्लेख नहीं किया है। 'बसव-राजीय' बसव को शिव के बैल (नन्दी) के अवतार तथा शैवों के संरक्षक के रूप में वर्णित करता है। परन्तु इस कृति के लेखक ने बसव के दार्शनिक सिद्धांतों के विषय में कुछ भी नहीं कहा है, वरन् पट्स्थल के कल्प विस्तृत किया है।

प्रोफेसर साखरे, नन्दिकेश्वर कृत लिंग-धारण-चन्द्रिका के अपने परिचय में स्वायंभुवागम से एक अंश उद्धृत करते हैं, जिनमें रेवणसिद्ध के सोमेश-लिंग से, मरुल-सिद्ध के सिद्धेशलिंग से, पंडिताचार्य के मल्लिकार्जुन-लिंग विश्वाराध्य से, एकोराम के रामनाथ-लिंग से तथा विश्वाराध्य के विश्वेश लिंग से पौराणिक उद्गमों का वर्णन है। इसके आगे हमारे पास इन आचार्यों अथवा इनकी शिक्षाओं की प्रकृति का कोई प्रमाण नहीं है। हमें यह भी ज्ञात नहीं है कि वे अपने को वीर-शैव कहते भी थे या नहीं। यह विवरण वीर-शैव-गुरु परम्परा अथवा जिनसे हम परिचित हैं। उन प्रकाशित या अप्रकाशित अन्य वीर शैव मूल ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन के अनुरूप नहीं है।

---

[1] देखिए—रामानुज का भाष्य (श्रीभाष्य) २—२—३७।

[2] समुद्र-सिकतासंख्यासामयास्सन्ति कोटिशः। —वीर शैवागम।

—मद्रास-हस्तलेख।

सुप्रभेदागम में दिए हुए और अज्ञात भूतकाल में उत्पन्न वीर शैवों के गोत्र तथा प्रवर सर्वथा काल्पनिक हैं। अतः उनका आगे विचार अनावश्यक है। ऐसा विचार वीर-शैव दर्शन तथा मतग्राहिताओं के उद्‌गम तथा विकास पर कोई ऐतिहासिक प्रकाश नहीं डाल सकता है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि एक परंपरा है जो अगस्त्य, रेणुका अथवा रेवण-सिद्ध, सिद्धराम तथा सिद्धांत शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य को संयुक्त करती है। श्रपति मुख्यतः अपने तर्कों को उपनिषदों तथा पुराणों पर आधारित करते हैं, परन्तु वह अगस्त्य सूत्र तथा रेणुकाचार्य का भी उल्लेख करते हैं। किन्तु वह वसव तथा अल्लमप्रभु, चन्नवसव, माचय, गोग, सिद्धराम तथा महादेवी प्रवृति उसके सहयोगी समकालिकों का उल्लेख नहीं करते हैं।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि वीर-शैवमत के विकास की दो या अधिक धाराएँ थीं जो बाद में एक-दूसरे में मिल गईं और वीर-शैव सिद्धांत का एकमात्र सम्प्रदाय मानी जाने लगीं। वसव के वचनों से वसव द्वारा प्रतिपादित मत के वास्तविक दार्शनिक महत्व का मूल्यांकन करना कठिन है। प्रभुलिंग-लीला तथा वसव-पुराण में हमें एक ऐसी विचार-प्रणाली मिलती है जिसको कि अन्य समर्थक सामग्री की अनुपस्थिति में, वसव के समय में वीर-शैवमत के नाम से ज्ञात विचार-प्रणाली का प्रायः रेखांकन करने वाला माना जा सकता है।

हम देखते हैं कि स्थल तथा लिंग-धारण के सिद्धांत प्रभुलिंग-लीला के लेखक को ज्ञात थे। परंतु, यद्यपि एक स्थान पर, जहाँ अल्लम प्रभु वसव को शिक्षा दे रहे हैं, षट्स्थल का उल्लेख है, तथापि सम्पूर्ण पुस्तक में सम्पूर्ण बल सत्ता के आधार शिव से (जीव) आत्मा की एकता के सिद्धांत पर है।[2] उपरोक्त गद्यांश में यह माना गया है

---

[1] अतः श्रीकर भाष्य २–२–३७, पृ० २३४, तथा ३–३–३, पृ० ३४७ में श्रीपति के कथन से यह प्रतीत होता है कि रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, रामसिद्ध, उद्‌भटाराध्य, वेमनाराध्य वास्तविक आचार्य थे जिन्होंने अपने विचार अथवा विश्वास के सिद्धांतों को किन्हीं विशेष रचनाओं में व्यक्त किया था। परंतु दुर्भाग्य से ऐसी रचनाओं का कुछ भी चिह्न नहीं खोजा जा सका है, न ही उनके द्वारा प्रतिपादित उनके साक्षात् विचारों का वर्णन ही संभव है। यह केवल अनुमान का ही विषय है कि श्रीपति ने स्वयं उन्हें देखा था अथवा नहीं। वह उन आचार्यों की रचनाओं से उद्धरण नहीं देते हैं तथा यह पूर्णतया संभव हो सकता है कि वे केवल परम्परा के आधार पर ही कथन कर रहे हों। अन्य गद्यांश (२–१–४) में श्रीपति मनु, वामदेव, अगस्त्य, दुर्वासा, उपमन्यु के नाम का उल्लेख करते हैं जो रेवणसिद्ध तथा मरुलसिद्ध के साथ पूर्णतः देवशास्त्रीय पौराणिक चरित्र हैं।

[2] देखिए–प्रभुलिंगलीला, अध्याय १६, पृ० १३२–४।

कि स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण से संबंधित दोहरी गांठ है जिसके अनुसार एक-एक जोड़े वाले तीन वर्गों में छः स्थल हैं। इस प्रकार स्थूल से संयोजित दो गाठें, भक्त तथा महेश्वर के नाम से जानी जाती हैं। सूक्ष्म के साथ, प्रारंभ से संयोजित प्राण तथा प्रसादलिंग स्थल कहलाते हैं। जो कारण के साथ हैं वे भावात्मक रूप के हैं तथा शरण एवं ऐक्यस्थल कहलाते हैं। अन्य रचनाओं जैसे वसवराजीय, वीर शैवागम तथा सिद्धांत शिखामणि में स्थलों के नामों की संख्या १०१ तक पहुँच गई है। किन्तु इनमें से किसी भी रचना में उनका दार्शनिक महत्व दर्शाने के लिए भिन्न स्थलों के विचार की व्याख्या नहीं की गई है। प्रभुलिंग-लीला में हम सुनते हैं कि चन्नवसव षट्स्थल का रहस्य जानते थे परंतु हम यह नहीं जानते कि वास्तव में वह रहस्य क्या था। इस संवंध में गुरु, लिंग, चर, प्रसाद तथा पादोदक का भी उल्लेख है। पुस्तक में सम्पूर्ण प्रमुखता आत्मा तथा अन्य किसी भी वस्तु की शिव से एक रूपता का साक्षात्कार करने की आवश्यकता पर दी गई है। वल्लभ वाह्य कर्मकांडों की निन्दा करते हैं तथा विश्व की अनंत सत्ता एवं आत्मा का शिव से साक्षात्कार करने की आवश्यकता पर वल देते हैं। वे प्राणी जीवन के प्रति सव प्रकार की क्षति की अत्यधिक निन्दा करते हैं तथा गोग को पृथ्वी पर हल जोतने को त्यागने के लिए विवश करते हैं क्योंकि इससे अनेक कीटों की हत्या होगी। अल्लम पुनः गोग को अपने समग्र कर्मफलों को ईश्वर को समर्पित करने तथा राग रहित कर्त्तव्य करने की शिक्षा देते हैं। वास्तव में अल्लम द्वारा प्रतिपादित वीर-शैवविचार, शंकर के दर्शन से कदाचित् ही विभिन्न किया जा सकता है, क्योंकि अल्लम ने एक सत्ता स्वीकार की जो माया तथा अविद्या की उपाधि के अन्तर्गत पृथक् आकारों में प्रदर्शित हुई। इस अर्थ में संपूर्ण संसार का एक भ्रम होगा। अल्लम द्वारा आदेशित भक्ति भी वौद्धिक स्वरूप की है, जिसके अंतर्गत निरंतर अविचल चिंतन तथा सव वस्तुओं की अंतिम सत्ता का शिव से साक्षात्कार करना है। भक्ति का यह विचार-सिद्धांत शिखामणि के लेखक रेणुकाचार्य को प्रभावित करता प्रतीत होता है, जिन्होंने अंतरभक्ति का लगभग इन्हीं शब्दों में वर्णन किया है।[1]

---

[1] लिंगे प्राणं समाधाय प्राणे लिंगं तु साम्भवम्
स्वस्थं मनस्तथा कृत्वा न किंचिच्चिन्तयेद्यदि।
साभ्यन्तरा भक्तिरिति प्रोच्यते शिव योगिभिः,
सा यस्मिन् वर्तते तस्य जीवनं भ्रष्टवीजवत्।

—सिद्धांत शिखामणि अध्याय ६, पद्य ८–६।

ततः सावधानेन तत्प्राण लिंगे,
रामीकृत्य कृत्यानि विस्मृत्य मत्या,
महायोग–साम्राज्य–पट्टाभिषिक्तो
भजेदात्मनो लिंगतादात्म्य–सिद्धिम्– —प्रभुलिंग लीला अध्याय १६, पृ० ६३।

मुक्ताई से अपने उपदेश में अल्लम कहते हैं कि जिस प्रकार एक दूध पीते बालक को मां के दूध से छुड़ाकर अनेक प्रकार के भोजन दिए जाते हैं, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षक, भक्त को बाह्य प्रकार की पूजा में ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा देता है तथा बाद में उनको छुड़वा देता है, जिससे अंत में वह सब प्रकार के कर्त्तव्यों से विरक्त हो जाता है, तथा सत्य-ज्ञान प्राप्त करता है जिससे उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। यहां अध्ययन तथा व्याख्यान का यथेष्ठ उपयोग नहीं है परंतु सबका शिव से तादात्म्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है।[1]

सिद्धराम तथा गोरक्ष से अपने वार्त्तालाप में, वह केवल शिव के अतिरिक्त सब वस्तुओं का अभाव ही प्रदर्शित नहीं करते वरन् एक प्रकार के जादूपूर्ण योग से अपना परिचय बताते हैं, जिसका विस्तृत वर्णन नहीं दिया है, तथा पंतजलि के योगशास्त्र में भी नहीं मिल सका है। अपने शिष्य बसव को आदेश में अल्लम ने भक्ति, षठ्स्थल तथा योग के स्वरूप की संक्षिप्त व्याख्या की है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग द्वारा प्राप्त शांतिपूर्ण निष्क्रियता अन्य कुछ नहीं वरन् केवल भिन्न प्रकार के अनुभवों तथा एक पूर्ण व्यक्ति के रूप में हमारे जीवन के अनुभव के साथ-साथ परम सत्य शिव से संपूर्ण तथा स्थिर अभिन्नता है। यह योग जो परम तादात्म्य की ओर प्रवृत्त करता है, शरीर के स्नायुसस्थान की सब जीव संबंधी क्रियाओं को उच्च एवं उच्च स्तर पर रोकने से, जब तक शक्तियां महान् सत्ता (भगवान शिव) से एक न हो जाए, किया जा सकता है। इस प्रकार जब तक योगी शिव में स्थिर नहीं हो जाता, चक्र घूमते तथा चलते रहते हैं। सम्पूर्ण भौतिक क्रिया, विशेष योग विधि द्वारा रोक दी जाती है, हमारा चित्त भटकता अथवा परिवर्तित नहीं होता वरन् शुद्ध भगवान शिव की चेतना में स्थिर रहता है।

बसव के शिक्षक अल्लम कहते हैं कि प्राणशक्ति-वायु को पूर्ण रूप से रोककर, प्रबल प्रयत्न से चित्त को स्थिर किए बिना भक्ति नहीं हो सकती, तथा बंधन से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। प्राण शक्ति अथवा वायु को रोकने से ही वीर-शैव का चित्त रुक जाता है तथा शरीर के भौतिक मूल तत्वों, जैसे अग्नि, जल आदि में मिश्रित हो जाता है। माया मनस की उत्पत्ति है तथा वायु भी मनस की उत्पत्ति मानी जाती है तथा यह वायु, मनस की क्रिया द्वारा शरीर बन जाती है। शरीर का अस्तित्व केवल वायु की क्रिया द्वारा ही संभव है जो हमें शिव के साथ सब वस्तुओं की एकता का साक्षात्कार करने से, जो भक्ति भी कहलाती है, दूर रखता है। अतः वीर-शैव को वायु की साधारण क्रिया की, उन्हें एक बिन्दु पर केन्द्रित करके तथा वायु की भिन्न चक्रों अथवा स्नायु-तंतु-जाल से श्रेष्ठता स्वीकार कर, विरुद्ध क्रिया का सहारा लेना

---

[1] देखिए प्रभुलिंग लीला, अध्याय १२, पृ० ५७–८।

पड़ता है, (शास्त्रीय भाषा में जो छः चक्रों पर नियंत्रण के रूप में ज्ञात है), जो स्वयं में ही वायु के नियंत्रण की क्रिया की अवस्थाएँ अथवा स्थल, षट्स्थल माने गए हैं ।[1] इस प्रकार देखा गया है कि प्रभुलिंग लीला में दिए हुए षट्स्थल के सिद्धांत के वर्णन के अनुसार षट्स्थल की क्रिया स्थलों के एक समूह से होती हुई ऊपर की ओर जाने वाली यात्रा के समान मानी जाएगी तथा केवल इसी के द्वारा शिव से तादात्म्य का साक्षात्कार किया जा सकता है । योग की इस शक्तिपूर्ण क्रिया का आदेश एक अर्ध-शारीरिक क्रिया की व्यावहारिक विधि है जिससे ईश्वर तथा आत्मा के परम तादात्म्य का साक्षात्कार किया जा सकता है । शंकर के अद्वैत दर्शन में यह कहा गया है कि ब्रह्मन् से आत्मा के परम तादात्म्य का साक्षात्कार प्राप्त करना, योग्य जीवन का उच्चतम लक्ष्य है । किन्तु यह कहा गया है कि ऐसे ज्ञान का साक्षात्कार अद्वैत मूल सूत्रों जैसे "तत्त्वमसि" के महत्व की उचित अनुभूति द्वारा हो सकता है । यह किसी ऐसे शक्तिपूर्ण अभ्यास को अस्वीकार करता है जिसे अल्लम द्वारा शिक्षित वीर-शैव के षट्स्थल सिद्धांत में बहुत प्रबलता से आदेशित किया गया है ।

अल्लम अपनी एक यात्रा में गोरक्ष से मिले थे । गोरक्ष ने भी जो संभवतः शैव थे, अपनी यौगिक क्रियाओं द्वारा ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त कर ली थी कि किसी भी शास्त्र के प्रहार का उन पर आघात नहीं हो सकता था । उन्होंने इसका प्रदर्शन अल्लम को दिखाया था । इसके उत्तर में अल्लम ने अपने शरीर में एक ओर से दूसरी ओर तलवार निकालने के लिए उनसे कहा । परंतु गोरक्ष को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जब उन्होंने अल्लम के शरीर के भीतर अपनी तलवार डाली तब उसके आघात का शब्द भी नहीं हुआ । अल्लम के शरीर से तलवार इस प्रकार निकली जैसे वह रिक्त स्थान में से निकल रही हो । गोरक्ष ने बहुत नम्रतापूर्वक वह रहस्य ज्ञात करना चाहा, जिससे कि अल्लम ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्ति का प्रदर्शन कर सके । इसके उत्तर में अल्लम ने कहा कि शरीर के समान माया जम जाती है तथा जब माया व शरीर दोनों जम जाते हैं तब छायारूप आकर वास्तविक प्रतीत होने लगते हैं ।[2] तथा शरीर व चित्त एक प्रतीत होते हैं । जब शरीर तथा माया हृदय में हटा दिए जाते हैं तब प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है । इस पर गोरक्ष ने अल्लम से पुनः आग्रह किया कि वह उन्हें शक्तियों की दीक्षा दें । अल्लम ने उनके शरीर का स्पर्श किया तथा उन्हें आशीर्वाद दिया परिणामस्वरूप एक आंतरिक परिवर्तन उत्पन्न हुआ । इसके प्रभाव से राग नष्ट हो गया तथा राग नष्ट होने से घृणा, अहंकार तथा अन्य दोष भी नष्ट हो गए । अल्लम ने पुनः यह कहा कि जब तक आत्मा यह नहीं अनुभव

---

[1] प्रभुलिंग लीला भाग ३, पृ० ६–८ (प्रथम प्रकाशन) ।

[2] वही, पृ० ५५ (प्रथम प्रकाशन) ।

कर लेती कि शरीर संबंध असत्य है तथा दोनों पूर्ण रूप से पृथक् हैं, तब तक उन भगवान शिव से वास्तविक तादात्म्य का अनुभव नहीं हो सकता, जिसके प्रति भक्ति समग्र सत्य-ज्ञान का कारण है। शिव के निरंतर चिंतन तथा प्राणायाम की उचित विधि द्वारा ही परम एकता का साक्षात्कार संभव है।

षट्स्थल की शक्तिपूर्ण क्रिया को उचित तथा व्यावहारिक रूप में ग्रहण करने तथा शंकर द्वारा आदेशित अभिन्नता के साक्षात्कार में एक सूक्ष्म अंतर है। शंकर वेदांत में, जब अनुरूप सहायक क्रियाओं द्वारा चित्त उचित रूप से तैयार हो जाता है तब गुरु, शिष्य अथवा होने वाले संत को आत्मा तथा ब्रह्मन् की अभिन्नता के परम ज्ञान के विषय में उपदेश देता है तथा होने वाला संत केवल एक ही सत्ता ब्रह्मन् से, अपने तादात्म्य के सत्य का प्रत्यक्षीकरण कर लेता है। वह यह भी तुरंत प्रत्यक्ष कर लेता है कि द्वैत का सब ज्ञान असत्य है। यद्यपि वह अपने को शुद्धचित्त अथवा ब्रह्मन् की शून्यता में वास्तविक रूप में परिवर्तित नहीं करता है। वीरशैव-प्रणाली में षट्स्थल की योजना यौगिक क्रियाओं के संपादन की योजना है। इनके द्वारा भिन्न प्राण-शक्तियों तथा स्नायु चक्र से संयोजित प्राण-क्रियाओं का नियंत्रण होता है तथा इसी विधि द्वारा योगी अपनी वासनाओं को नियंत्रित कर लेता है तथा तब तक नई एवं उन्नत ज्ञान की अवस्थाओं से परिचित कराया जाता है जब तक उसकी आत्मा नित्य सत्ता शिव से इस प्रकार एक रूप नहीं हो जाती कि तथ्य तथा विचार दोनों में द्वैत तथा मिथ्याभास नष्ट हो जाएं। इस प्रकार एक सफल वीर शैव संत को केवल शिव से अपने तादात्म्य का ज्ञान ही नहीं करना चाहिए वरन् उसके समस्त शरीर का (जो सत्ता का आभास अथवा प्रतिबिम्ब था) अस्तित्व समाप्त हो जाना चाहिए। उसका प्रगट शरीर संसार में भौतिक तथ्य नहीं होगा इससे अन्य भौतिक पदार्थों से भी कोई सघात संभव नहीं होगा, यद्यपि वाह्य रूप में वे भौतिक पदार्थ प्रतीत हो सकते हैं।

एक समान दार्शनिक विचार, 'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' नामक एक रचना में पाया जा सकता है जो गोरक्ष कृत कही जाती है, जो स्वयं शिव के अवतार एक शैव संत माने जाते हैं। उनके विषय में अनेक आख्यान हैं तथा उनके व उनके शिष्य की चमत्कारपूर्ण क्रियाओं तथा कार्यों की प्रशंसा में बंगला तथा हिन्दी भाषा में अनेक कविताएँ रची गई हैं। उनका काल अनिश्चित है। आठवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक के लेखकों में गोरक्ष के उल्लेख मिलते हैं तथा गुजरात, नैपाल, बंगाल तथा अन्य उत्तरी पश्चिमी भारत के भागों में उनके चमत्कारपूर्ण क्रियाओं के करने का वर्णन है। उनके एक प्रसिद्ध शिष्य का नाम मत्स्येंद्रनाथ था। शिव पशुओं के भगवान, पशुपति कहलाते हैं तथा गोरक्ष का अर्थ भी पशुओं का रक्षक है। कोष में 'गो' का अर्थ एक ऋषि के नाम से तथा पशु के नाम से भी है। अतः गोरक्ष तथा पशुपति शब्दों में

एक सुगम सहचार है। गोरक्ष के विचार वही माने जाते हैं जो कि सिद्धांत के हैं। यह हमें इस तथ्य का स्मरण कराता है कि दक्षिण के शैव सिद्धांत 'सिद्धांत' में महेश्वर अथवा शिव द्वारा प्रतिपादित माने जाते हैं, जिसका विस्तृत वर्णन सिद्धांतों के आगम-दर्शन के रूप में, इस रचना में अन्य स्थान पर दिया हुआ है। गोरक्षनाथ के उपदेशों के दार्शनिक पक्ष पर केवल कुछ ही संस्कृत पुस्तकें हमको प्राप्त हैं। किन्तु स्थानीय भाषाओं में अनेक पुस्तकें हैं जो कि गोरक्षनाथ (जो गोरखनाथ भी कहलाते हैं) के संप्रदाय के कानफटायोगियों की चमत्कारपूर्ण अद्‌भुत शक्तियों का वर्णन करती हैं।

इनमें से एक संस्कृत रचना 'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' कहलाती है। यहां पर अचल की परम सत्ता तथा शुद्ध चैतन्य का वह स्थिर स्वरूप देखा जा सकता है जो हमारे आंतरिक तथा बाह्य अनुभवों का अनंत आधार है। यह कभी उत्पन्न अथवा नष्ट नहीं होता तथा उस अर्थ में नित्य तथा सदैव स्वयं प्रकाश है। इस प्रकार यह उस साधारण ज्ञान से भिन्न है, जो बुद्धि कहलाता है। साधारण ज्ञान का उदय तथा अस्त होता रहता हैं परंतु यह शुद्ध चैतन्य, जो शिव से एकरूप है, समस्त घटनाओं तथा काल से परे है। अतः यह सब वस्तुओं का आधार माना जाता है। इसी से समस्त कार्य, उदाहरणार्थ शरीर, करण (इन्द्रिय), कर्त्ता तथा आत्माएं अथवा जीव उत्पन्न होते हैं। इसी की स्वच्छंदता से तथाकथित ईश्वर तथा उसकी शक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। इस प्रारंभिक अवस्था में शिव अपने को अपनी शक्ति से अभिन्न प्रदर्शित करते हैं। यह सामरस्य कहलाता है अर्थात् दोनों का एक ही रस होना। यह परम स्वरूप मूल अहम् है (जो कुल भी कहलाता है), जो अपने को भिन्न रूपों में प्रदर्शित करता है। हमें सत्ता के इस अनन्त स्वरूप को, जो अपरिवर्तनशील है, उस सत्ता से विभिन्न करना है जो जाति प्रत्यय तथा अन्य विभिन्न लक्षणों से संबंवित है। यह विभिन्न लक्षण महान् सत्ता में भी रहते हैं, क्योंकि अनुभव की समस्त अवस्थाओं में अनंत सत्ता के अतिरिक्त इन विभिन्न लक्षणों की कोई सत्ता नहीं है, जो सबको शुद्ध चैतन्य की ऐक्यता में आश्रय देती है। क्योंकि इन विभिन्न गुणों की अपने से परे अपरिवर्तनशील आधार की तुलना में कोई सत्ता नहीं, अतः अंत में उन्हें सर्वव्याप्त सत्ता से समरस मानना होगा।

समरस का प्रत्यय एकरसता है। एक वस्तु जो अन्य वस्तु से भिन्न प्रगट होती है, किन्तु जो वास्तविकता अथवा साररूप से वही है, वह प्रथम समरस कहलाती है। यह भी वही विधि है जिससे सत्ता तथा आभास के भेदाभेद सिद्धांत की व्याख्या की है। जिस प्रकार जल की एक बिन्दु जल के उस विस्तार से भिन्न प्रतीत होती है जिसमें वह रहती है परंतु वास्तव में उसकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है तथा जल के विस्तार से भिन्न स्वाद नहीं है। परम सत्ता अपना स्वरूप नष्ट किए बिना, अपने को

भिन्न रूपों में प्रदर्शित करती है यद्यपि उन सबमें अथवा उनके द्वारा केवल वही परम सत्ता के रूप में रहती है। यही कारण है कि यद्यपि परम सत्ता सब शक्तियों से प्रदत्त है तथापि यह अपना प्रदर्शन भिन्न अभिव्यक्त रूपों के अतिरिक्त नहीं करती है। इस प्रकार सर्वशक्तिमान शिव यद्यपि समस्त शक्तियों का उद्गम है, तथापि वह इस प्रकार व्यवहार करता है जैसे शक्ति रहित हो। अत: यह शक्ति शरीर में सदा जाग्रत कुंडलिनी शक्ति के रूप में तथा भिन्न आकारों में भी अभिव्यक्त होती है। शरीर का अनश्वर समझना 'कार्यसिद्धि' कहलाता है।

'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' में दिए हुए गोरक्ष के दार्शनिक विचारों की व्याख्या के अधिक विस्तार में जाने की हमें आवश्यकता नहीं क्योंकि ऐसा करने से विपर्यांतर हो जाएगा। परंतु हमें हठयोग अर्थात् नाड़ी चक्र के नियंत्रण का आश्चर्यजनक संयोग जीव तथा संसार का एक समान सत्ता होने के विचार से (यद्यपि वे भिन्न प्रतीत होते हैं) मिलता है जैसा हमें प्रभुलिंग-लीला के उस व्याख्यान में मिलता है, जो अल्लम प्रदत्त माना गया है। यह एक प्रकार का भेदाभेद का सिद्धान्त भी मानता है तथा शंकर द्वारा उपस्थित उपनिषदों की व्याख्या का विशेष विरोधी है।

षट्स्थल का विचार अवश्य ही या तो पृथक् सिद्धांत के रूप में अथवा शैवमत के किसी प्रकार के अंश के रूप में प्रचलित होगा। हम जानते हैं कि शैव मत के अनेक संप्रदाय थे जिनमें से अनेक अब लुप्त हो गए हैं। षट्स्थल का नाम किसी भी धार्मिक संस्कृत रचना में नहीं मिल सकता है। सिद्धांत शिखामणि से पूर्व हमारे पास वीर शैव मत का कोई विवरण नही है। रचनाओं में इसका वर्णन मिलता है जिनमें से अत्यंत महत्वपूर्ण में से कुछ 'प्रभुलिंग-लीला' तथा 'बसव-पुराण' हैं। हम यह भी सुनते हैं कि बसव के भतीजे चन्न बसव को षट्स्थल के सिद्धांत की दीक्षा दी गई थी। प्रभुलिंग लीला में हम देखते हैं कि अल्लम ने षट्स्थल सिद्धांत की शिक्षा बसव को दी थी। प्रभुलिंग-लीला में हम अल्लम तथा गोरक्ष के मध्य एक रोचक संवाद भी पाते हैं। गोरक्ष के 'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' की विषय-सूची का भी हमने संक्षिप्त परीक्षण किया है तथा हम यह देखते हैं कि अल्लम द्वारा उपदिष्ट षट्स्थल का सिद्धांत 'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' में प्राप्त योग सिद्धांत के लगभग समान है। यदि हमारे पास अधिक स्थान होता तो अल्लम तथा गोरक्ष के सिद्धांतों की रोचक तुलना देते। यह असंभव नहीं है कि गोरक्ष तथा अल्लम के विचारों का परस्पर विनिमय हुआ हो। दुर्भाग्य से गोरक्ष का काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सकता, यद्यपि यह ज्ञात है कि उनके सिद्धांत मध्यकाल में लम्बी अवधि तक भारत के भिन्न भागों में बहुत दूर तक विस्तृत थे।

षट्स्थल की व्याख्या करने वाली भिन्न रचनाओं में इस (षट्स्थल) की व्याख्या भिन्न हैं। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि बसव के पश्चात् षट्स्थल का सिद्धांत

वीरशैव-मत का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व माना जाता था तथापि षट्स्थल क्या हो सकता था, इसके विषय में हम सब भ्रम में हैं। सत्य तो यह है कि हम संख्या के विषय में भी निश्चित नहीं हैं। जिस प्रकार कि वीरशैव-सिद्धान्त में १०१ स्थलों का उल्लेख है तथा इसी प्रकार 'सिद्धांत-शिखामणि' में भी है। परंतु अन्य स्थानों, जैसे श्रीपति के भाष्य, मायिदेव के 'अनुभवसूत्र' तथा 'प्रभुलिंग-लीला' एवं 'बसव-पुराण' में हम केवल छः स्थलों का ही उल्लेख पाते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न प्रमाणित रचनाओं में स्थल समान नहीं हैं। इन स्थलों के विचार भी भिन्न हैं। कभी-कभी वे भिन्न अर्थ में उपयोग किए गए हैं। कुछ रचनाओं में स्थल का उपयोग शरीर के छः नाड़ी चक्र के निर्देश के लिए हुआ है अथवा उन छः केन्द्रों के लिए, जिनसे ईश्वर की शक्ति भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होती है। कभी-कभी उनका उपयोग ईश्वर की छः गौरवपूर्ण शक्तियों के निर्देश के लिए हुआ है, तथा कभी मुख्य प्राकृतिक तत्वों से जैसे पृथ्वी, अग्नि, जल आदि के निर्देश के लिए हुआ है। सम्पूर्ण भाव ऐसा प्रतीत होता है कि समष्टि विश्व तथा व्यष्टि का सूक्ष्म दर्शन अभिन्न सत्ताएं होने के कारण, किसी केन्द्र की दुष्चरित्र शक्तियों का नियंत्रण संभव है तथा शक्ति की अभिव्यक्ति के अधिक शक्ति केन्द्रित विन्दु की ओर जाया जा सकता है एवं यह एक अवस्था से दूसरी पर, आरोहण की ऊर्ध्वगामी प्रक्रिया है।

मायिदेव का अनुभव-सूत्र[1]

प्रथम शिक्षक उपमन्यु का जन्म आईपुर में हुआ था। द्वितीय शिक्षक भीमनाथ प्रभु थे। तत्पश्चात् महागुरु कालेश्वर आए। श्रौत तथा स्मार्त साहित्य तथा उनकी प्रथाओं व विधियों में कुशल उनके पुत्र श्री वोप्पनाथ थे। वोप्पनाथ के पुत्र श्री नाक-राज प्रभु थे जो वीरशैव-कर्मकांड तथा धर्म की प्रथाओं में कुशल थे। नाकराज के शिष्य संगमेश्वर थे। संगमेश्वर के पुत्र मायिदेव थे। ये शिवाद्वैत के ज्ञान में कुशल हैं तथा षट्स्थल ब्रह्मवादी हैं। शैवागम कामिक से आरम्भ होते हैं तथा वातुल से समाप्त होते हैं। वातुल तंत्र अत्यंत उत्तम है। दूसरे भाग (जो प्रदीप कहलाता है) के अंतर्गत शिव सिद्धांत तंत्र है। षट्स्थल का सिद्धांत प्राचीन विचारों के साथ गीता के सिद्धांतों पर आधारित है। इसका समर्थन शिक्षकों के उपदेशों तथा अनुभव के

---

[1] अनुभव-सूत्र, दो भागों में पूर्ण 'शिव-सिद्धान्त-तंत्र' का दूसरा भाग है। प्रथम भाग 'विशेषार्थ प्रकाशक' है। 'अनुभव-सूत्र' मायिदेव द्वारा लिखा हुआ है, यह अनुभव-सूत्र के परिशिष्ट से स्पष्ट है। इसका उल्लेख 'शिव-सिद्धान्त-तंत्र' के अन्तिम परिशिष्ट में भी है।

साक्षात्कार एवं तर्क द्वारा किया गया है। अनुभव सूत्र में (१) गुरु परंपरा (२) स्थल की परिभाषा (३) लिगस्थल (४) अंगस्थल (५) लिंग-संयोग-विधि (६) लिंगार्पण सद्भाव (७) सर्वांग-लिंग-साहित्य तथा (८) क्रिया विश्रांति हैं।

स्थल की परिभाषा एक ब्रह्मन् के रूप में दी है जो सत्-चित् तथा आनंद से अभिन्न ही है, जो संसार की अभिव्यक्ति तथा संहार के आधार शिव का परम तत्व कहलाता है। यह वह तत्व भी है, जिसमें से, महत् आदि भिन्न तत्व उत्पन्न हुए हैं। 'स्थ' का अर्थ है 'स्थान' तथा 'ल' का अर्थ है–'लय'। यह समस्त शक्तियों का उद्गम है तथा सब प्राणी इसमें से आए हैं तथा इसी में वापिस जाएंगे। इस परम तत्व को शक्ति के आत्म-क्षोभ के कारण ही अन्य भिन्न स्थल विकसित होते हैं। यह एक स्थल, लिंग स्थल तथा अंगस्थल में विभाजित किया जा सकता है। जिस प्रकार रिक्त स्थान को कमरे के अंदर के स्थान अथवा जलपात्र के अंदर के स्थान का विशेष गुण दिया जा सकता है, उसी प्रकार स्थल का द्विविभाजन, पुजारी तथा पूजा का विषय प्रतीत हो सकता है।

शिव अपने में अपरिवर्तनशील रहकर इन दो रूपों में प्रगट होते हैं। एक ही शिव शुद्ध चित्त तथा लिंग के एक अंग के रूप में प्रगट होते हैं। लिंगाग जीव भी कहलाता है।

जैसे, स्थल, ब्रह्मन् तथा जीव दो भागों में हैं वैसे ही उसकी शक्ति भी दोहरी है। वह निर्विकल्प है तथा महेश्वर कहलाता है। यह अपनी शुद्ध स्वेच्छा से दो रूप ग्रहण कर लेता है। इसका एक भाग लिंग अथवा ब्रह्मन् से संयोजित है तथा दूसरा अंग अथवा जीव से। वास्तव में शक्ति तथा भक्ति समान हैं।[1] जब शक्ति सृष्टि के लिए गतिशील होती है तब वह प्रवृत्ति के रूप में शक्ति कहलाती है तथा अवरोध के रूप में निवृत्ति भक्ति कहलाती है।[2] भक्ति के अनेक रूप होने के कारण उसकी निर्विकल्पता का अवच्छेद भिन्न आकारों में हो जाता है। शक्ति के दोहरे कार्य, उच्च तथा निम्न अपने को उस तथ्य में प्रगट करते हैं कि उच्च, संसार की अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा निम्न, भक्ति के रूप में ईश्वर में वापस जाने की ओर प्रवृत्त होता है। वही इन दोहरे रूपों में माया तथा भक्ति कहलाती है। लिंग में शक्ति, भक्ति में अंग के रूप में प्रगट होती है तथा जीव एवं अंग की ऐक्यता शिव तथा जीव की अभिन्नता है।

---

[1] शक्ति भक्तयोर्न भेदोऽस्ति। —अनुभव-सूत्र, पृ० ८।

[2] शक्त्या प्रपंच सृष्टिः स्यो,
भक्त्य तद्विलयोमतः। वही।

लिंग-स्थल तीन प्रकार के हैं जैसे, (१) भावलिंग (२) प्राणलिंग तथा (३) इष्टलिंग। भावलिंग केवल शुद्ध सत्ता की आंतरिक अनुभूति से ही जाना जा सकता है तथा भावलिंग निष्कल कहलाता है। प्राणलिंग विचार द्वारा समझी हुई सत्ता है अत: यह निर्विकल्प तथा सविकल्प दोनों है। इष्टलिंग वह है जो आत्म-साक्षात्कार अथवा भक्ति के रूप में किसी के शुभ की पूर्ति करता है तथा वह दिक् व काल से परे है।

अनंत शक्ति शुद्ध निर्वृत्ति है तथा सबसे परे है, शान्त्यतीत है, इसके पश्चात् इच्छा शक्ति है जो शुद्ध ज्ञान के रूप में विद्या भी कहलाती है। तीसरी, क्रियाशक्ति कहलाती है, जो निवृत्ति की ओर ले जाती है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की तीन शक्तियाँ छ: प्रकार की हो जाती हैं।

छ: स्थलों का पुन: वर्णन निम्नलिखित रूप में हैं :

(१) वह जो स्वयं में सम्पूर्ण रूप से पूर्ण, सूक्ष्म, अनादि, अनंत तथा अपरिभाषित है परन्तु शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति के रूप में केवल हृदय की अनुभूति समझा जा सकता है, महात्मलिंग कहलाता है।

(२) वह जिसे हम इंद्रियों से परे शुद्ध चैतन्य के रूप में विकास का बीज पाते हैं जो सादाख्य तत्व भी कहलाता है, प्रसादघनलिंग कहलाता है।

(३) शुद्ध प्रकाशमान पुरुष जो बाह्याभ्यंतर भेद रहित है, आकार रहित है तथा आत्मन् के नाम से जाना जाता है चर लिंग कहलाता है।

(४) जब यह इच्छाशक्ति द्वारा स्वयं को अहंकार में अभिव्यक्त करता है, तब हमें शिवलिंग मिलता है।

(५) जब यह अपने ज्ञान, शक्ति तथा सर्वव्याप्ति द्वारा सब प्राणियों को समस्त सुखों के क्षेत्र के परे ले जाने के लिए गुरु का स्थान ग्रहण करता है, तब यह गुरुलिंग कहलाता है।

(६) इसका वह पक्ष जिसमें कि यह अपनी क्रिया द्वारा विश्व को आश्रय देता है तथा सबको अपने चित्त में रखता है, आचार लिंग कहलाता है।

इन स्थलों, अंगस्थलों के पुन: विभाग व उपविभाग हैं।

'अम्' से तात्पर्य है ब्रह्म तथा 'ग' से तात्पर्य है वह जो जाता है। अंगस्थल तीन प्रकार का है; जैसे, योगांग, भोगांग, त्यागांग। प्रथम में, मनुष्य शिव से संयोग का आनन्द प्राप्त करता है। द्वितीय भोगांग में मनुष्य शिव के साथ उपभोग अनुभव करता है तथा त्यागांग में मनुष्य भ्रम अथवा जन्म व पूर्वजन्म के असत्य विचार को त्याग देता है। योगांग मूल कारण है, भोगांग सूक्ष्म कारण है तथा त्यागांग भौतिक

कारण है। योगांग स्वप्नरहित अवस्था है, भोगांग साधारण मुप्तावस्था है तथा त्यागांग जागरण की अवस्था है। योगांग प्रज्ञा की, भोगांग तेजस की तथा त्यागांग विश्व की अवस्था है। योगांग शिव से ऐक्य तथा शरणस्थल कहलाता है। भोगांग दो प्रकार का हैं—प्राणलिंगी तथा प्रसादी। स्थूल भी दो प्रकार का है—भक्त-स्थल तथा महेश्वर-स्थल। पुन: प्रज्ञा ऐक्यस्थल तथा शरणस्थल है। तेजस, प्राणलिंगी तथा प्रसादी है। विश्व पुन: महेश्वर तथा भक्तस्थल के रूप में दो प्रकार का है। ऐक्य शरण, प्राणलिंगी, प्रसादि, माहेश्वर तथा भक्त क्रमानुसार छ: स्थल माने जा सकते हैं।

पुन: सर्वशक्तिमत्ता सतोष तथा अनादि चेतना, स्वतंत्रता, शक्ति की अनवरुद्धता तथा अनंत शक्ति—ये ईश्वर के अंश हैं जो षट्स्थल में होने के कारण भिन्न उपाधियों पर आधारित छ: प्रकार की भक्ति के रूप में माने जाते हैं। भक्ति अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करती है, जिस प्रकार भिन्न फलों में जल भिन्न स्वादों में अभिव्यक्त होता है। भक्ति शिव के स्वरूप की है। तब यह आनन्दस्वरूप है। पुन:, यह अनुभव स्वरूप है तथा वह नैष्ठिकी के स्वरूप की और छठी अच्छे व्यक्तियों में भक्ति के स्वरूप की है। आगे यह कहा गया है कि यह समस्त वर्गीकरण निरर्थक है। मेरा तथा प्रत्येक वस्तु का तादात्म्य सत्य है, अन्य सब असत्य है—वह ऐक्यस्थल है। ज्ञान के स्वयं प्रकाश द्वारा, ईश्वर से संयुक्त होने के कारण, शरीर तथा इन्द्रियाँ आकार रहित प्रतीत होती हैं, जब प्रत्येक वस्तु शुद्ध प्रतीत होती है, वह शरणस्थल कहलाता है-जब कोई समस्त भ्रमों का अथवा शरीर आदि के विषय में दोषों का परिहार करता है तथा कल्पना करता है कि वह लिंग के साथ एक है, तब वह प्राणलिंग अथवा चर-स्थल कहलाता है। जब कोई सुख के सब पदार्थों को ईश्वर को समर्पित कर देता है, वह प्रसाद-स्थल कहलाता है तथा जब कोई ईश्वर से एक होने के रूप में अपनी बुद्धि ईश्वर पर केन्द्रित कर लेता है तब वह माहेश्वर-स्थल कहलाता है। जब असत्य सत्य प्रतीत होता है तथा जब चित्त भक्ति की आराधना-क्रिया द्वारा उससे विरक्त हो जाता है तब व्यक्ति संसार से विरक्त हो जाता है, यह भक्ति-स्थल कहलाता है। इस प्रकार हमारे पास अन्य छ: प्रकार के षट्स्थल हैं।

पुन:, अन्य दृष्टिकोण से हमारे पास षट्स्थल का एक अन्य वर्णन है, जैसेकि आत्मा से आकाश का विकास, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी का विकास होता है। पुन:, आत्मन् तथा ब्रह्मन् की ऐक्यता व्योमांग कहलाती है। प्राणलिंग, वायवांग कहलाता है तथा प्रसाद अनलांग, तथा महेश्वर, जलांग कहलाता है एवं भक्त भूम्यंग कहलाता है। पुन:, बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है और नाद से कला उत्पन्न होती है तथा इसके विपरीत, कला से बिन्दु तक जाया जा सकता है।

वैष्णवों के असदृश, अनुभवसूत्र भक्ति का उस अनुराग के रूप में वर्णन नहीं करता है, जिसमें पुजारी तथा पूजक के मध्य द्वैत भावना हो, वरन् प्रबल शब्दों में ईश्वर से शुद्ध ऐक्यता अथवा तादात्म्य के प्रकाशन के रूप में वर्णन करता है। इसका यह अर्थ है तथा वास्तव में यह विशेष रूप से कहा गया है कि पूजा के वे सब कर्म-काण्डी रूप जिनमें द्वैतावस्था है, केवल काल्पनिक रचनाएं हैं। अपनी लीलामय भावना में भगवान अनेक रूप ग्रहण कर सकते हैं परन्तु भक्ति के प्रकाश को यह व्यक्त करना चाहिए कि वे सब उससे एक हैं।

—ऽऽ—

अध्याय ३६

श्रीकंठ का दर्शन

श्रीकंठ की ब्रह्मसूत्र पर टीका तथा उस पर अप्पयदीक्षित की उपटीका में श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित शैवमत का दर्शन

परिचय

प्रस्तुत रचना के पिछले भागों में प्रायः कहा गया है कि बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र उन अनेक प्राचीन उपनिषदों में, जो भारतीय दर्शन के अनेक आस्तिक संप्रदायों के विचारों के आधार का निर्माण करते हैं, प्राप्त विभिन्न विचारधाराओं को प्रकट रूप में क्रमबद्ध करने का प्रयत्न है। भिन्न विचारधाराओं के प्रतिपादकों ने ब्रह्मसूत्र की भिन्न प्रकार से व्याख्या की है, उदाहरणार्थ, शंकर, रामानुज, भास्कर, माधव, वल्लभ आदि। इन सबका विवरण प्रस्तुतत रचना के पिछले भागों में दिया जा चुका है। वेदांत का मौलिक अर्थ है, उपनिषदों की शिक्षाएं। फलस्वरूप ब्रह्मसूत्र उपनिषदीय ज्ञान की क्रमबद्धता है तथा विभिन्न दार्शनिक विचारों के भिन्न प्रतिपादकों द्वारा विभिन्न प्रकारों में इसकी अनेक व्याख्याएं, सभी वेदांत के नाम से ज्ञात हैं, यद्यपि एक संप्रदाय के विचारकों का वेदांतदर्शन किसी भी अन्य संप्रदाय से विशेषतः भिन्न प्रतीत हो सकता है। जिस प्रकार, जबकि शंकर द्वारा ब्रह्मसूत्र का स्पष्टीकरण अद्वैत है, माधव की व्याख्या स्पष्ट रूप से अनेकवादी है। प्रस्तुत रचना के चतुर्थ भाग में हमने शताब्दियों में विस्तृत दोनों विचारधाराओं के प्रतिपादकों के मध्य प्रतिवाद की तीव्रता देखी।

क्योंकि श्रीकंठ ने अपने विचारों का प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के रूप में किया है तथा उनकी उपनिषदों के प्रति भक्ति तथा निष्ठा है, अतः इस रचना को वेदांत की व्याख्या मानना होगा। वेदांत की अनेक व्याख्याओं के सादृश (उदाहरणार्थ रामानुज, माधव, वल्लभ अथवा निम्बारकर द्वारा) श्रीकंठ का दर्शन, व्यक्तिगत आस्था से संबंधित है, जहाँ ब्रह्मन् से समानता होने के कारण शिव को उच्चतम देव माना है। अतः शैवमत के प्रमाणित स्पष्टीकरण के रूप में इसकी मांग की जा सकती है। शैवमत अथवा शैवदर्शन ने भी अनेक रूप ग्रहण किए थे जैसाकि संस्कृत रचनाओं तथा द्रविड़ भाषा की रचनाओं में व्यक्त किया गया है; परंतु प्रस्तुत रचना में हमारी रुचि केवल संस्कृत रचनाओं में शैवदर्शन के स्पष्टीकरण से है। प्रस्तुत लेखक की पहुंच

मौलिक द्रविड़ साहित्य जैसे तमिल, तैलगु, कन्नड़ तक नहीं है तथा प्रस्तुत रचना की प्रस्तावित योजना के अंतर्गत भारत की प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य से सामग्री संग्रह करना नहीं है।

अपनी टीका के परिचय में श्रीकंठ कहते हैं कि उनकी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या का लक्ष्य उसके उद्देश्य का स्पष्टीकरण करना है क्योंकि पूर्व आचार्यों ने इसे अस्पष्ट कर दिया था।[1] हम यह नहीं जानते कि ये पूर्व शिक्षक कौन थे परंतु शंकर तथा श्रीकंठ की टीकाओं की तुलना यह दिखाती है कि शंकर उनके लक्ष्यों में से एक थे। शंकर के शैवमत पर विचार, संक्षेप में, उनकी ब्रह्मसूत्र २–२–३५–३८ पर टीका से प्राप्त किए जा सकते हैं तथा उनके शैवदर्शन पर विचार कुछ पौराणिक व्याख्याओं के अधिक अनुरूप हैं जो पूर्ण संभव है कि विज्ञान भिक्षु द्वारा इनकी विज्ञानामृत भाष्य नामक ब्रह्म-सूत्र की टीका तथा ईश्वर गीता पर कूर्म पुराण की टीका में ले ली गई थी। शंकर आठवीं शताब्दी ई० में किसी समय विद्यमान थे तथा उनका प्रमाण यह दिखाता है कि जिस प्रकार का शैवदर्शन उन्होंने प्रतिपादित किया वह बादरायण को भली प्रकार ज्ञात था अतः उन्होंने खंडन करने के लिए इसको ब्रह्मसूत्र में सम्मिलित किया। इससे शैव-विचार-प्रणाली की महान् प्राचीनता ज्ञात होती है। पृथक् खंड में हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

शंकर दक्षिण में केरल प्रदेश के थे तथा वे अवश्य ही शैवदर्शन के कुछ लेखों अथवा शैवागमों से परिचित होंगे। पर न तो शंकर और न उनके टीकाकारों ने इनके नाम का उल्लेख किया है। परंतु स्पष्ट है कि श्रीकंठ ने कुछ शैवागमों का अनुकरण किया, जिनका प्रारंभ पूर्वकाल में शिव के अवतार श्वेत नामक व्यक्ति ने किया था, जिसका अनुकरण उसी संप्रदाय के अन्य शिक्षकों ने अवश्य किया होगा तथा श्रीकंठ के अपने प्रमाण के अनुसार अठाइस अवतार श्रीकंठ से पूर्व विद्यमान थे जिन्होंने शैवागम रचनाएँ लिखी थीं। शिव महापुराण की वायवीय संहिता में प्रारंभिक शिक्षक श्वेत का उल्लेख भी है।[2]

मंगलाचरण के श्लोक में श्रीकंठ, अहम् पदार्थ के रूप में शिव की पूजा करते हैं। उप टीकाकार अप्पय दीक्षित (१५५० ई०) महाभारत का अनुकरण करते हुए शिव का चरित्र-चित्रण एक काल्पनिक रीति से मूल 'श' अर्थात् 'संकल्प' से शब्द व्युत्पन्न

---

[1] व्यास सूत्रं इदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मदर्शने।
पूर्वाचार्यैः कलुषितं, श्रीकंठेन प्रसाद्यते।

—श्रीकंठ भाष्य प्रारंभिक पद्य ५।

[2] शिव-महापुराण, वायवीय-संहिता १–५–५ आदि।

वेंटेश्वर प्रेस, बम्बई १९२५।

करने का प्रयत्न करते हैं। इसका यह अर्थ है कि भगवान शिव का व्यक्तित्व शुद्ध अहम् के स्वरूप का है तथा उसकी इच्छा-शक्ति सदैव समग्र प्राणियों के श्रेय तथा आनंद को कार्यान्वित करने में प्रवृत्त रहती है। यह अहम्, सत्-चित् तथा आनंद के रूप में भी वर्णित है। आगे श्रीकंठ कहते हैं कि उनकी टीका उपनिषद् तथा वेदांत की शिक्षाओं के सार की व्याख्या है और यह उनको आकर्षित करेगी जो शिव के भक्त है। श्रीकंठ ने शिव का वर्णन एक ओर अहम् के तत्व के रूप में किया है जो जीव के व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उसी समय वे उसको शुद्ध सत्, चित् तथा आनंद स्वरूप मानते हैं। उनका यह विचार है कि जीव का यह व्यक्तित्व केवल असीमित अर्थ में ही शिव के असीम रूप से अभिन्न माना जा सकता है। इस पद्य पर टीका करते हुए अप्पय दीक्षित वैयक्तिक ईश्वर के रूप में शिव के व्यक्तिगत पक्ष को प्रमुखता देने के लिए कुछ उपनिषदों के प्रमाण उद्धृत करते हैं।[1] साधारणतः सत्-चित् आनंद-रूपाय शब्द सत्, शुद्ध चित् तथा आनंद की साकार ऐक्यता के अर्थ में शंकर के अद्वैत वेदांत संप्रदाय के लेखों में प्रयोग किया जाएगा। परन्तु इस प्रकार का अर्थ पूर्ण ईश्वरीय दर्शन के लिए उपयुक्त नहीं है। इस कारण अप्पय कहते हैं कि सत्-चित्-आनंद शब्द महाईश्वर शिव के गुण हैं, तथा यह अंतिम शब्द 'रूपाय' द्वारा निर्देशित होता है क्योंकि ब्रह्मन् स्वयं अरूप है। सीमित जीव का शिव के असीम रूप में विस्तार भी यह सूचित करता है कि जीव उसके (ब्रह्मन् के) साथ आनंद तथा चित् के गुणों का उपभोग करता है। शंकर की एक व्याख्या के अनुसार, जो व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्मन् अर्थात् सत्-चित्-आनद की ऐक्यता से एक हो जाता है। वह चित् अथवा आनंद का उपभोग नहीं करता परतु वह उससे तुरंत एक है। शंकर तथा उनके संप्रदाय की प्रणाली में ब्रह्मन् पूर्णरूप से निर्गुण तथा निर्विशेष है। रामानुज ब्रह्मसूत्र की अपनी टीका में निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म के विचार का खंडन करने का प्रयत्न करते हैं तथा ब्रह्म को अनंत संख्या में शुभ तथा हितैषी गुण एवं धर्मों का निवास मानते हैं। यह सगुण ब्रह्मन् अर्थात् गुणयुक्त कहलाता है। श्रीकंठ ने यही विचार भिन्न रूप में प्रस्तावित किया है। पुराणों तथा कुछ प्राचीन संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त सगुण ब्रह्मन् का विचार रामानुज के अतिरिक्त वर्तमान दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि रामानुज ने बोधायन वृत्ति का अनुकरण किया किन्तु वह अब अप्राप्य है। अतः यह प्रस्ताव किया जा सकता है कि श्रीकंठ के भाष्य को प्रेरणा, बोधायन वृत्ति अथवा रामानुज या सरल ईश्वरीय विचार मानने वाले किसी भी शैवागम से मिली थी।

---

[1] ओंनमोऽहं-पदार्थाय लोकानां सिद्धिहेतवे,
सच्चिदानन्द-रूपाय शिवाय परमात्मने।

—श्रीकंठ द्वारा शिव की प्रारम्भिक स्तुति।

एक ओर भगवान शिव, महान् तथा अनुभवातीत देवता माने जाते हैं तथा दूसरी ओर, वह इस भौतिक विश्व के उपादान कारण माने जाते हैं; जिस प्रकार दही का उपादान कारण दूध है। स्वाभाविक है कि इससे कुछ आपत्तियां उत्पन्न होती हैं, क्योंकि महान् ईश्वर एक ही समय में पूर्ण अनुभवातीत तथा साथ ही भौतिक विश्व की सृष्टि के लिए परिवर्तित होते हुए जिसको (विश्व) कि स्वयं ईश्वर का स्वरूप मानना है, नहीं माना जा सकता। इस आपत्ति से बचने के लिए अप्पय, श्रीकंठ के विचार का संक्षिप्त वर्णन करते हैं तथा अद्वैतवादी एवं द्वैतवादी व्याख्याओं को इंगित करते हुए उपनिषदों के मूल ग्रन्थों में अनुरूपता लाने का प्रयत्न करते हैं। अतः वह कहते हैं कि ईश्वर स्वयं भौतिक विश्व के रूप में रूपांतरित नहीं होता वरन् ईश्वर की शक्ति, जो स्वयं को भौतिक विश्व के रूप में अभिव्यक्ति करती है, ईश्वर के पूर्ण व्यक्तित्व का एक अंश है। अतः जड़ जगत् भ्रम अथवा ईश्वर का गुण (स्पिनोजा के अर्थ में) नहीं माना जा सकता है, न ही यह ईश्वर का अंश अथवा अवयव माना जा सकता है जिससे कि विश्व की सब क्रियाएं ईश्वर के संकल्प पर निर्भर हैं, जैसाकि रामानुज अपने विशिष्टाद्वैत के सिद्धांत में मानते हैं। श्रीकंठ ईश्वर तथा विश्व के संबंध के उस स्वरूप को भी नहीं मानते हैं जैसाकि लहरों अथवा फेन तथा समुद्र के मध्य होता है। लहरें अथवा फेन न तो समुद्र से भिन्न हैं और न एक, यह भास्कर का भेदाभेदवाद कहलाता है। यह भी ध्यान दिया जा सकता है कि श्रीकंठ का यह विचार विज्ञान भिक्षु के उस विचार से पूर्णतः भिन्न है जिसे उन्होंने ब्रह्मसूत्र की टीका "विज्ञानामृत-भाष्य" में व्यक्त किया है, जिसमें वह पुराणों में भली-भांति प्रचलित इस विचार को स्थापित करना चाहते हैं कि, प्रकृति तथा पुरुष ईश्वर से बाहर निवासित सत्ताएं हैं तथा जिनका ईश्वर से सह अस्तित्व है, व ईश्वर द्वारा विश्व की उत्पत्ति के लिए, पुरुष के उपभोग तथा अनुभव के हेतुवादी उद्देश्य के लिए तथा अंत में पुरुषों को बंधन से परे मोक्ष की ओर ले जाने के लिए क्रियान्वित करता है। यहां शंकर की ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) पर टीका की ओर संकेत करना अनुचित न होगा जहां वे एक शैव सिद्धांत के खंडन का प्रयत्न करते हैं, जो ईश्वर को निमित्त कारण मानता है, जो विश्व के निर्माण के लिए प्रकृति का रूपांतर करता है—यह विचार उस विचार के लगभग समान है जो विज्ञान भिक्षु के "विज्ञानामृत भाष्य" में मिलता है। यह शैव विचार, श्रीकंठ द्वारा व्यक्त, शैव विचार से पूर्ण रूप से भिन्न प्रतीत हुआ है, जो स्पष्ट रूप से श्वेत से प्रारंभ हुए अट्ठाईस, योगाचार्यों की परम्परा पर आधारित है। महान् वैयक्तिक ईश्वर भगवान् शिव हमारी कामनाओं अथवा कल्याणकारी अभिलाषाओं की पूर्ति करते हुए माने जाते हैं। यह विचार अप्पय द्वारा उनकी 'शिव' शब्द की किंचित काल्पनिक शब्द व्युत्पत्ति मूल 'वश' तथा 'शिव' शब्द अर्थात् 'शुभ' से दोहरी शब्द-व्युत्पत्ति में उपस्थित किया गया है।

श्रीकंठ शैवों के प्रथम गुरु के प्रति भक्ति रखते हैं तथा उन्हें (श्वेत को) अनेक आगमों का निर्माता मानते हैं। अप्पय भी अपनी टीका में 'नानागम विधायिने' शब्द

के अर्थ के विषय में अनिश्चित हैं। वह दो वैकल्पिक व्याख्याएं देते हैं। एक में उनका यह प्रस्ताव है कि पूर्व गुरु ने उपनिषद् के मूल ग्रन्थों के अनेक व्याघातों को निश्चित किया था तथा एक ने शैव-प्रणाली प्रारंभ की थी जिसका उचित समर्थन उपनिषद् के मूल ग्रंथों द्वारा हो सकता है। द्वितीय व्याख्या में उनका प्रस्ताव है कि 'नानागम विधायिने' शब्द अर्थात् वह जिसने अनेक आगमों को उत्पन्न किया है, का अर्थ केवल इतना है कि श्वेत-प्रणाली अनेक आगमों पर आधारित थी। ऐसी व्याख्या में हमें निश्चित नहीं हैं कि यह आगम उपनिषदों पर आधारित थे, अथवा अन्य द्रविड़ मूल ग्रंथों पर अथवा दोनों पर।[1] शंकर के ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) के भाष्य पर टीका करते हुए वाचस्पति अपनी 'भामती' में कहते हैं कि वह प्रणालियों जो शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धांतिन तथा कापालिकों के रूप में ज्ञात हैं, वे माहेश्वर नामक चार प्रकार के संप्रदायों के रूप में जानी जा सकती हैं।[2] वे सब प्रकृति, महत् आदि के सांख्य सिद्धांत में तथा ओम शब्द के किसी प्रकार के योग में विश्वास करते हैं, उनका अंतिम लक्ष्य मोक्ष तथा समस्त दुःखों का अंत था। जीव, पशु कहलाते हैं तथा पाश शब्द का अर्थ बंधन है। माहेश्वर विश्वास करते हैं कि ईश्वर, संसार का निमित्त कारण है, जिस प्रकार कुम्हार जलपात्र अथवा मिट्टी के वर्त्तनों का है।

शंकर तथा वाचस्पति दोनों ही इस महेश्वर-सिद्धांत को उपनिषदिक शास्त्रों के विरोधी उन सिद्धांतों पर आधारित मानते हैं जिन्हें महेश्वर ने लिखा था। उनमें से कोई भी गुरु श्वेत के नाम का उल्लेख नहीं करता जो श्रीकंठ के भाष्य तथा शिव महापुराण में आलेखित हैं। अतः यह स्पष्ट है कि यदि शंकर के प्रमाण को स्वीकार किया जायगा तब इस शब्द 'नानागम विधायिने' का अर्थ वह समाधानित सिद्धांत नहीं हो सकता जिसकी रचना श्वेत तथा अन्य सत्ताईस शैव गुरुओं[3] ने उपनिषदों

---

[1] अस्मिन् पक्षे 'नानागमविधायिनी' इत्यस्य
नानाविध पाशुपताद्यागम निर्मात्रा इत्यर्थः।
—श्रीकंठ के भाष्य पर अप्पय की टीका (बम्बई १९०८) भाग १, पृ० ६।

[2] किन्तु रामानुज ने उसी सूत्र की अपनी टीका में चार प्रकार के संप्रदायों—कापाल, कालमुख, पाशुपत एवं शैव का उल्लेख किया है।

[3] वायवीय-संहिता खंड श्वेत से प्रारंभ करके अठाईस योगाचार्यों के नाम का उल्लेख करता है। उनके नाम निम्नलिखित हैं :
श्वेतः सुतारो मदनः सुहोत्रः कङ्कैव च
लोगाक्षिश्च महामायो जैगीषव्यः तथैव च। २
दधिवाहश्च ऋषभो मुनिरुग्रोऽत्रिरेव च
सुपालको गौतमश्च तथा वेदशिरा मुनिः। ३

के आधार पर की थी। हमने पहले ही इंगित किया है कि शैव सिद्धांत जिसे हम श्रीकंठ में पाते हैं, माहेश्वर-विचारधारा से यथेष्ठ भिन्न है जिसका शंकर तथा वाचस्पति खंडन करना चाहते थे। वहां पर शंकर ने महेश्वर विचारधारा को न्याय-दर्शन के लगभग समान तुलना की है। महेश्वर द्वारा तथाकथित लिखे सिद्धांत लेख क्या थे, यह अभी तक अज्ञात है। परन्तु यह निश्चित है कि वे ईसा काल के पूर्व अथवा आरंभ में रचे गए थे क्योंकि उस सिद्धांत का बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में उल्लेख किया था। श्रीकंठ निश्चित रूप से कहते हैं कि आत्माएँ तथा निर्जीव पदार्थ, जिनसे विश्व का निर्माण हुआ है, सब महान् भगवान की पूजा की सामग्री की रचना करते हैं। मानव आत्माएँ प्रत्यक्ष रूप से उनकी पूजा करती हैं तथा निर्जीव पदार्थ उस सामग्री की रचना करते हैं, जिससे उनकी पूजा होती है। अतः संपूर्ण विश्व महान् भगवान के हेतु अस्तित्व रखता माना जा सकता है। श्रीकंठ आगे कहते हैं कि भगवान की शक्ति अथवा बल, उस आधार अथवा स्थूल पृष्ट की रचना करता है जिस पर सम्पूर्ण संसार अनेक रंगों में चित्रित है। अतः संसार की सत्ता स्वयं ईश्वर के स्वरूप में है। विश्व जैसा हमें प्रतीत होता है, केवल एक चित्र-प्रदर्शन है, जिसका आधार ईश्वर की परम सत्ता है जो उपनिषदों में निश्चित रूप से वर्णित तथा प्रमाणित माना गया है।[1] श्रीकंठ के प्रमाण पर, उनके द्वारा व्याख्या किया हुआ शैवमत का दर्शन उपनिषदों की व्याख्या का अनुकरण करता है तथा उन पर आधारित है।

गोकर्णश्च गुहावासी शिखाडी चापरः स्मृतः
जटामाली चाट्टहासो दारुको लाङ्गली तथा। ४

महाकालश्च शूली च दण्डी मुण्डिशैव च
सविष्णुस्सोम-शर्मा च लकुलीश्वरैव च। ५

वायवीय-संहित २–६ पद्य २–५। कूर्म-पुराण १–५३–४ से तुलना कीजिए। उनके शिष्यों के नाम २–६ पद्य ६–२० से दिए हुए हैं (कूर्म-पुराण १–५३, १२) से तुलना कीजिए।

प्रत्येक योगाचार्य के चार शिष्य थे। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं (वायवीय-संहिता २-६-१०) कपिल, असुरि, पंचशिख, पराशर. बृहदश्व, देवल, शालिहात्र, अक्षपाद, कनाद, उलूक, वत्स।

निज-शक्ति-भित्ति-निर्मित-निखिल-जगज्जाला-चित्र-निकुरुम्भः
स जयति शिवः परात्मा निखिलागम-सार-सर्वस्वम्। २

भवतु स भवतां सिद्ध्यै परमात्मा सर्व-मंगलो-पेतः,
चिदचिन्मयः प्रपञ्चः शेषो शेषोऽपि यस्यैषः। ३

—प्रारंभिक पद्य, श्रीकंठ का भाष्य।

यह दुर्भाग्य है कि जिन विद्वानो ने शैवमत के अध्ययन पर लेख लिखे हैं अथवा उस पर पुस्तकें लिखी हैं उनमें से अनेकों ने बहुधा श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित दर्शन की उपेक्षा की है, यद्यपि उनकी रचना १६०८ में ही प्रकाशित हो गई थी।

हमनें पहले ही देखा है कि ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) पर अपने भाष्य में शंकर ईश्वर की निमित्तता का सिद्धांत साहित्य के सिद्धांत के रूप से संबंधित मानते हैं जिसे अनुमानतः महेश्वर ने लिखा था। श्रीकठ द्वारा व्याख्या किए हुए उसी विषय पर टीका करते हुए अप्पय कहते हैं कि यह विचार शैवागमों में, उन्हें अपूर्ण रूप से समझने पर पाया जा सकता है। परंतु न तो वह और न श्रीकंठ, हम तक प्राप्त किसी भी उन शैवागमों का उल्लेख करते हैं, जो ईश्वर की निमित्तता का वर्णन करते हैं। अतः श्रीकठ भी उस विचार के खंडन का प्रयत्न करते हैं जो यह मानता है कि ईश्वर संसार का निमित्त कारण ही है। अतः हम अनुमान कर सकते हैं कि कुछ शैवागमों की व्याख्या ईश्वर को संसार का निमित्त कारण मानने के आधार पर की गई थी।

ब्रह्मसूत्र (२-२-३७) पर श्रीकंठ का भाष्य तथा उस पर अप्पय की टीका कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषय उपस्थित करते हैं। इनसे हमें ज्ञात होता है कि आगम दो प्रकार के थे जिनमें से एक उन तीन वर्णों के लिए था जिनकी पहुँच वैदिक साहित्य तक थी तथा दूसरा उनके लिए था जिनकी पहुँच वैदिक साहित्य तक नहीं थी। यह उत्तरकालीन आगम, द्रविड़ प्रादेशिक भाषाओं में लिखे हुए हो सकते हैं अथवा संस्कृत संग्रहों से द्रविड़ प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद किए गए हों। ब्रह्मसूत्र की श्रीकंठ की अपनी व्याख्या मुख्यतः, शिव महापुराण के वायवीय संहिता भाग में प्रतिपादित विचारों पर आधारित है। कूर्म पुराण तथा वाराह पुराण में भी हम भिन्न प्रकार के शैवागम तथा शैव विचारधाराओं के विषय में सुनते हैं। कुछ शैव संप्रदाय जैसे लकुलीश अथवा वाराह वैदिक विचारों की सीमा के बाहर समझे जाते हैं तथा इस विचार के अनुयायी भ्रमात्मक शास्त्र का अनुकरण करते माने जाते हैं। इसके उत्तर में यह माना जाता है कि इनमें से कुछ संप्रदाय अपवित्र प्रथा का अनुकरण करते हैं तथा इसी कारण भ्रमात्मक शास्त्र के रूप में माने जाते हैं। परंतु वे पूर्ण रूप से वैदिक अनुशासन के विरोधी नहीं हैं तथा वे भक्ति व पूजा की कुछ विधियों को प्रोत्साहित करते हैं जो वैदिक प्रथा में मिलती हैं। उपरोक्त प्रकार के आगम अर्थात् जो शूद्र तथा अन्य निम्न जातियों के लिए हैं, प्रसिद्ध आगमों जैसे कामिक, मृगेन्द्र आदि के समान हैं। किंतु कहा गया है कि यह वेद विरोधी आगम तथा वायवीय संहिता में प्राप्त वैदिक शैवमत मुख्यतः प्रमाणित हैं तथा दोनों ही अपने उद्गम के लिए भगवान शिव के आभारी हैं। उनके प्रमुख सिद्धांत समान हैं क्योंकि दोनों ही शिव को

संसार का उपादान तथा निमित्त कारण मानते हैं। कुछ अल्पज्ञ व्याख्याकारों ने महान् भगवान की निमित्तता को प्रमुखता देते हुए आगमों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है तथा उपरोक्त विषय का उद्देश्य महान् भगवान के विषय में ऐसे विचार का खंडन करना है जिसके अनुसार वह केवल निमित्त कारण है।

यह ध्यान देना आश्चर्यजनक है कि शैवदर्शन के दो संप्रदाय-लाकुलीश व पाशुपत तथा शैवदर्शन जैसी उनकी 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में व्याख्या की गई है, मुख्यत: ईश्वर के उस पक्ष की व्याख्या करते हैं जिसमें वह (ईश्वर) विश्व का निमित्त कारण है। वे विविध प्रकार के कर्मकाण्डों को प्रमुखता देते हैं तथा नैतिक अनुशासन के कुछ रूपों को भी प्रोत्साहित करते हैं। यह भी ध्यान देना आश्चर्यजनक है कि 'सर्व-दर्शन-संग्रह' श्रीकंठ के भाष्य का उल्लेख न करें यद्यपि प्रथमोक्त ईसवी की चौदहवीं शताब्दी के लगभग किसी समय लिखा गया होगा और श्रीकंठ भाष्य उस समय के बहुत पहले लिखा गया होगा। यद्यपि हमारे लिए अभी तक यह संभव नहीं है कि हम उनका निश्चित समय निर्धारित कर सकें। न ही सर्व-दर्शन-संग्रह, शिव महापुराण, कूर्म-पुराण तथा वाराह पुराण में प्राप्त पौराणिक सामग्रियों का उल्लेख करता है। परंतु हम प्रणालियों की व्याख्या बाद में अन्य खंड में करेंगे तथा श्रीकंठ के भाष्य में प्रतिपादित दर्शन से उनका संबंध वहां तक प्रदर्शन करेंगे जहां तक कि हस्तलिखित सामग्री तथा अन्य प्रकाशित शास्त्र प्राप्त हैं।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की व्याख्या करते हुए श्रीकंठ पहले अथ शब्द के अर्थ पर एक लम्बा तर्क उपस्थित करते हैं। साधारणत: 'अथ' का अर्थ 'पश्चात्' है अथवा यह एक विषय को उचित आरम्भ से उपस्थित करता है। श्रीकंठ मानते हैं कि 'अथातो धर्म जिज्ञासा' से प्रारंभ होकर जैमिनी कृत सम्पूर्ण मीमांसा सूत्र ब्रह्मसूत्र (४–४–२२) के अंतिम सूत्र 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' तक एक ही है। फलस्वरूप ब्रह्म-जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मन् के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा के बाद अवश्य आना चाहिए जो जैमिनी के मीमांसा-सूत्र के विषय की रचना करता है। हमने इसी कृति के अन्य भागों में देखा है कि पूर्व मीमांसा का विषय धर्म के स्वरूप की परिभाषा से आरंभ होता है। जो वैदिक आदेशों (चोदना लक्षणोर्थे धर्मः) की आज्ञा से निकले हुए लाभदायक फलों के रूप में माना गया है। अत: यज्ञ, धर्म के रूप में माना जाता है तथा यह यज्ञ कुछ अंशों में इच्छित लाभों की प्राप्ति, जैसे पुत्र-जन्म, सफलता-प्राप्ति, वृष्टि अथवा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में दीर्घकाल तक निवास के लिए होता है। कुछ अंशों में यह यज्ञ आवश्यक कर्मकाण्ड के रूप में तथा समारोह के अवसरों पर आवश्यक अनुष्ठानों के लिए होता है। साधारणत: इन यज्ञ संबंधी कर्त्तव्यों का ब्रह्म-जिज्ञासा से बहुत संबंध नहीं है। अत: शंकर ने ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर अपनी टीका में यह दिखाने का बहुत प्रयत्न किया है कि ब्रह्म-जिज्ञासा का जिनको

अधिकार है उनसे पूर्णतया भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों को यज्ञ संबंधी कर्त्तव्य निर्दिष्ट करने चाहिएं। कर्म तथा ज्ञान के दो भाग पूर्ण भिन्न हैं तथा मनुष्यों की दो जातियों के लिए उद्देशित हैं। पुनः जब धर्म का फल सांसारिक सफलता अथवा स्वर्ग के कुछ काल के लिए निवास तथा कुछ समय पश्चात् पुनर्जन्म तथा मृत्यु की शृंखला में ले आता है तब एक बार प्राप्त ब्रह्म ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति मनुष्य को समस्त बंधन से परम मोक्ष दिला देगा। अतः ये दो मार्ग अर्थात् कर्म मार्ग व ज्ञान मार्ग परस्पर पूरक नहीं माने जा सकते। उन्हें एक ही वृत्त के खंड मानना भूल है। यह शंकर का कर्म तथा ज्ञान के संयुक्त संपादन के खंडन के रूप में ज्ञात है जो शास्त्रीय भाषा में 'ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद' कहलाता है।

श्रीकंठ यहाँ इसके विपरीत विचार व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि जिस ब्राह्मण का यज्ञोपवीत हो चुका है उसे वेद के अध्ययन का अधिकार है, वास्तव में एक उपयुक्त आचार्य के अंतर्गत वेद के अध्ययन का उसका आवश्यक कर्त्तव्य है तथा जब वह वेदों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तब उसे अपने को उनके अर्थ से परिचित कराना पड़ता है। अतः पूर्ण अर्थ समझने के साथ वेद का अध्ययन ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में किसी जिज्ञासा अथवा तर्क के पूर्व आने वाला मानना पड़ेगा। क्योंकि धर्म वेदों से ज्ञात हो सकता है अतः ब्रह्मन् का ज्ञान भी वेदों के अध्ययन से करना होगा। परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि वेदो के केवल अध्ययन के पश्चात् ही किसी को ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क करने का अधिकार हो जाता है। ऐसे मनुष्य को, वेदों के अध्ययन के पश्चात् धर्म के स्वरूप का विचार करना होगा जिसके बिना उसे ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क से परिचित नहीं कराया जा सकता। अतः ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क, धर्म के स्वरूप के पश्चात् ही आरंभ हो सकता है।[1] वे आगे कहते हैं कि यह हो सकता है कि पूर्वमीमांसा में प्राप्त वैदिक आदेशों की व्याख्या में प्रयुक्त नियम तथा सिद्धांत, ब्रह्मन् के स्वरूप के तर्क की ओर ले जाने वाले उपनिषदीय मूल ग्रंथों को समझने के लिए आवश्यक हों। इसी कारण ब्रह्मन् के स्वरूप के विचार से पूर्व धर्म के स्वरूप के विषय में एक तर्क अनिवार्यतः आवश्यक है।

किन्तु, यह नही कहा जा सकता कि यदि यज्ञ ब्रह्मन् के स्वरूप के ज्ञान की ओर ले जाते हैं तब उसके स्वरूप के विषय में विवेचना का क्या लाभ है। इससे तो धर्म के स्वरूप के विषय में विचार करना अच्छा है, क्योंकि जब बिना किसी लक्ष्य की पूर्ति

---

[1] तर्हि किमनन्तरमस्यारम्भः। धर्म-विचारान्तरम्। श्रीकंठ का भाष्य १-१-१ भाग १, पृ० ३४।
न वयं धर्म-ब्रह्म-विचार-रूपयोःशास्त्रयोरत्यन्तभेदवादिनः।
किन्तु एकत्ववादिनः। —वही।

की कामना के वैदिक कर्म किए जाते है, वे स्वयं एक मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध कर देंगे तथा ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा करने के योग्य बना देंगे, क्योंकि वैदिक यज्ञों के ऐसे निष्काम कर्मों से व्यक्ति अपने पापों से मुक्त हो जाता है तथा यह ब्रह्मन् के स्वरूप-प्रकाशन की ओर ले जा सकता है।[1] उन्होंने गौतम तथा अन्य स्मृतियों की ओर यह विचार स्थापित करने के लिए संकेत लिए हैं कि केवल वे, जो वैदिक धार्मिक रचनाओं में दीक्षित हैं, ब्रह्मन् में निवास तथा उससे एकाकार होने के अधिकारी हैं। अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है कि केवल वे वैदिक बलिदान जो बिना किसी लक्ष्य-प्राप्ति के विचार के किए जाते हैं वे ही अन्त में पापों की समाप्ति की ओर ले जाते हैं जिससे ब्रह्म-ज्ञान संभव हो जाता है। ऐसे मनुष्य के दृष्टांत में कर्म का फल वही होता है जो ज्ञान का फल होता है। सत्य ज्ञान के उदित होने तक कर्म किए जाते हैं फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मन् के स्वरूप पर विचार से पूर्व दिए हुए वैदिक कर्म से उत्पन्न 'धर्म' के स्वरूप पर विचार आवश्यक है। ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा का अर्थ वैदिक आदेश का पालन करना नहीं है, बरन् ऐसी बहुमूल्य सम्पत्ति जो किसी के पास हो सकती है, उसके उच्च आकर्षण से मनुष्य उसकी ओर जाते हैं तथा यह हम देखते हैं कि निष्काम भावना से वैदिक धर्म पालन करने से जब किसी की बुद्धि पूर्ण शुद्ध हो जाती है तब ही ब्रह्मन् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। केवल इसी रूप में धर्म के स्वरूप पर तर्क ब्रह्मन् के स्वरूप पर तर्क की ओर ले जाता हुआ मान सकते हैं। निष्काम भावना से, वैदिक कर्म को करने से यदि बुद्धि शुद्ध नहीं हुई है तब वैदिक धर्म का केवल संपादन ही किसी को ब्रह्मन् के स्वरूप के प्रति जिज्ञासा का अधिकारी नहीं बना देता।

श्रीकंठ के उपरोक्त भाष्य पर अप्पय दीक्षित टीका करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मन् के स्वरूप पर विचार का अर्थ है उपनिषदों के मूल ग्रन्थों पर विचार स्वाभाविक ही ऐसे तर्क ब्रह्मन् के ज्ञान की ओर ले जाएँगे। ब्रह्मन् शब्द की उत्पत्ति मूल 'ब्रिह्मति' अर्थात् 'महान्' से हुई है जो काल, दिक् तथा गुण की विशेषताओं से सीमित नहीं है अर्थात् जो असीम रूप से महान् है। हमें यह अर्थ स्वीकार करना होगा क्योंकि किसी भी प्रकार की सीमा को सूचित करने के लिए कुछ भी नहीं है (संकोच-काभावत्)। ब्रह्मन् समस्त चेतन व अचेतन से भिन्न है। शक्ति दो प्रकार की होती है, वह जो भौतिक बल अथवा शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है (जड़ शक्ति) जो अपने को ब्रह्मन् के आदेश अथवा निमित्ता के अंतर्गत भौतिक विश्व के आकार में रूपांतरित कर लेती है, चैतन्य के रूप में भी शक्ति (चिच्छक्ति) है तथा जैसाकि हम चेतन प्राणियों

---

[1] तस्य फलाभिसन्धि-रहितस्य पापापनयन-रूपचित्त-शुद्धि-संपादन द्वारा बोध-हेतुत्वात्।
—श्रीकंठ का भाष्य १-१-१, भाग १, पृ० ३९।

में देखते हैं, यह चेतन-शक्ति ब्रह्मन् द्वारा नियंत्रित है।[1] ब्रह्मन् स्वयं अचेतन वस्तुओं तथा चेतन आत्माओं से पूर्ण जगत् प्रपंच से भिन्न है। परंतु, क्योंकि चेतन आत्माएं तथा अचेतन संसार दोनों ही ब्रह्मन् अथवा शिव या उसके किसी अन्य नाम से ईश्वर की शक्ति हैं, अतः संसार की सृष्टि तथा पालन के लिए स्वयं ईश्वर के पास कोई अन्य निमित्त नहीं है। अतः ब्रह्मन् की महानता सर्वथा निःसीम है क्योंकि उसके परे ऐसा कुछ नहीं है जो कुछ आलम्बन दे सके। उपादान-कारण तथा आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करती हुई ईश्वर की दो शक्तियाँ किसी प्रकार ईश्वर की गुण मानी जा सकती हैं।

जिस प्रकार एक वृक्ष में पत्ते तथा फूल होते हैं परंतु इस भेद के उपरांत भी वृक्ष एक माना जाता है, इसी प्रकार यद्यपि ईश्वर में भी गुणों के रूप में अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं, तथापि वह एक माना जाता है। अतः यद्यपि भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के दृष्टिकोण से निरूपण करने पर ब्रह्मन् के स्वरूप से दोनों का भेदांतर किया जा सकता है, तथापि आंतरिक निरूपण करने पर उन्हें ब्रह्मन् से एक मानना चाहिए। इन दो शक्तियों का ईश्वर से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। ब्रह्मन् शब्द का अर्थ केवल असीमता ही नहीं वरन् इसका अर्थ यह भी है कि वह समस्त सम्भावित उद्देश्यों की पूर्ति करता है। सृष्टि के समय वह संसार की सृष्टि करता है तथा अनेक सुखों तथा दुःखों में से आत्माओं को ले जाता हुआ अन्त में जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है तब उन्हें अपने स्वय के स्वरूप में विस्तृत कर लेता है।

एक लम्बे तर्क के पश्चात्, अप्पय दीक्षित, निष्कर्ष में यह इंगित करते हैं कि वे समस्त व्यक्ति, जो यज्ञ धर्म के अनुशासन से होकर निकले हैं, ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा के अधिकारी नहीं हैं। पूर्व जीवन के कर्मों के कारण जिनकी बुद्धि उचित रूप से शुद्ध हो गई है, केवल वे ही इस जीवन में वैदिक कर्मों के निष्काम भावना के पालन द्वारा अपनी बुद्धि को पुनः शुद्ध कर सकते हैं तथा नित्य एवं अनित्य का विवेक-युक्त ज्ञान तथा आवश्यक वैराग्य, मोक्ष की कामना तथा कर्म पर आंतरिक व बाह्य नियंत्रण प्राप्त कर सकते है, जिससे वे अपने को ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा करने का अधिकारी बना लेते हैं। इस प्रकार अप्पय दीक्षित श्रीकंठ तथा शंकर के दृष्टि-कोणों के बीच की खाई को भरने का प्रयत्न करते हैं। शंकर के विचारानुसार केवल आंतरिक गुण एवं विशेषताएँ मोक्ष के लिए कामना आदि ही एक व्यक्ति को

---

[1] तस्य चेतनाचेतन-प्रपंच विलक्षणत्वा-भ्युपगमेन वस्तु-परिच्छिन्नत्वादित्याशंका निरसितुमाद्य-विशेषणम्। सकल-चेतनाचेतन-प्रपंच-कार्यया तद्रूप-परिणामित्या परम-शक्त्या जड-शक्तेर्मायाया नियामकत्वेन तत उत्कृष्टया चिच्छक्त्या विशिष्टस्य।

—शिवार्कमणिदीपिका, अप्पय की टीका, भाग १, पृ० ६८।

ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा करने का अधिकारी बना देती हैं। शंकर के अनुसार वैदिक कर्मों के स्वरूप अथवा उनके संपादन पर लम्बा तर्क ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा का अति आवश्यक पूर्व साधना की रचना नहीं करता। परंतु अप्पय दीक्षित श्रीकंठ के विचार को शंकर के विचार से इस प्रस्ताव द्वारा संबंधित करना चाहते हैं कि जहां पूर्व जीवन के शुभ कर्मों के कारण किसी व्यक्ति की बुद्धि वैदिक धर्मों के निष्काम संपादन से पुन: पवित्र करने के लिए यथेष्ठ शुद्ध हो गई है, केवल ऐसे ही दृष्टांतों में ही शंकर द्वारा इंगित अनिवार्य अभीष्ट वस्तु के अभाव के रूप में ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा के लिए एक व्यक्ति मानसिक गुण तथा साधन प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में तर्क की संभावना के समर्थन का प्रयत्न, अप्पय दीक्षित यह इंगित करके करते हैं कि उपनिषदों के अनेक मूल ग्रंथों में ब्रह्मन् का वर्णन अनेक प्रकार से अहम्, अन्न, प्राण आदि के रूप में हुआ है। अत: मूल ग्रंथ संबंधी आलोचना द्वारा ब्रह्मन् का निश्चित स्वभाव ज्ञात करना आवश्यक है। यदि ब्रह्मन् का अर्थ केवल अहम् है अथवा यदि इसका अर्थ शुद्ध भेदरहित चैतन्य है तब तर्क का कोई स्थान नहीं रहेगा। अपने स्वयं के सीमित अहम् के विषय में किसी को शंका नहीं है तथा उस ब्रह्मन् के ज्ञान से कुछ लाभ नहीं है जो शुद्ध भेद रहित चैतन्य है। इस कारण उपनिषदों के उन अनेक मूल ग्रंथों के विषय में तर्क आवश्यक है जो वैयक्तिक ईश्वर का प्रमाण देते हैं, जो (ईश्वर) अपने भक्त को आनंद तथा परम चैतन्य प्रदान कर सकता है।

ब्रह्मन् का स्वरूप

श्रीकंठ अनेक उपनिषदीय मूल ग्रंथों को उपस्थित करते हैं जो ब्रह्मन् के स्वरूप की परिभाषा अथवा वर्णन करते हुए माने जाते हैं। प्रकट रूप में उनमें परस्पर विरोध है तथा परिभाषाओं को क्रम से एक के बाद एक अथवा एक साथ लेने से व्याघात का समाधान नहीं होता तथा इस कारण यह आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसी मूल ग्रन्थ-संबंधी तथा आलोचनात्मक परिभाषा का निरूपण किया जाए जिनसे एक संयुक्त अर्थ निकले। यह मूल ग्रन्थ ब्रह्मन् का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि वह, जिसमें प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उदित हुआ तथा अंत में जिसमें प्रत्येक वस्तु वापस चली जाएगी एवं वह, जिसका स्वरूप शुद्ध आनंद, शुद्ध सत् तथा शुद्धचित्त है। अप्पय दीक्षित कहते हैं कि क्योंकि ऐसे गुणों से अनेक देवताओं को विशेपित किया गया है अत: यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम वास्तविक अनंत देवता भगवान शिव को खोजें जिनमें यह सब गुण हैं। वह एक लम्बा तर्क उपस्थित करते हैं कि इन अनेक विशेषणों से विशेषित होने से उस सत्ता अथवा व्यक्ति जिसमें वे हैं–के विषय में क्या

कोई उचित शंका उत्पन्न होगी ? वह पुनः शंका के उस स्वरूप पर लम्बा तर्क करते हैं जो तब उदित होती है जब एक सत्ता अनेक विशेषणों द्वारा वर्णित हो अथवा जब एक सत्ता अनेक व्याघाती विशेषणों द्वारा वर्णित हो या जब अनेक पदार्थ एक सामान्य विशेषण द्वारा वर्णित हों। इस तर्क की प्रक्रिया में वे शंका की अनेक समस्याओं को उपस्थित करते हैं जिनसे हम भारतीय दर्शन की व्याख्या में पहले से ही परिचित हो चुके हैं।[1] अंत में अप्पय इस तथ्य को प्रमुखता देने का प्रयत्न करते हैं कि ये गुण शिव के व्यक्तित्व में स्थाई माने जा सकते हैं तथा कोई व्याघात नहीं हो सकता क्योंकि गुणों का अर्थ व्याघाती सत्ता नहीं होता है। भिन्न स्वभाव के अनेक गुणों का एक सत्ता अथवा व्यक्ति में सामंजस्य हो सकता है।

संसार की सृष्टि, उसके पालन तथा अंत में उसके संहार के अथवा बंधन की समाप्ति द्वारा आत्माओं के मोक्ष के अनुमानित कारण भगवान् शिव हैं। संसार की सृष्टि, उसके पालन आदि के समस्त गुण दृष्टि विषयक उपस्थित संसार के हैं अतः इनसे उनकी आवश्यक परिभाषा की रचना करते हुए भगवान् शिव को विभूषित नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि एक व्यक्ति अपने शुभ कर्मों तथा सांसारिक सुखों से निवृत्ति तथा भक्ति द्वारा स्वतः मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परंतु ऐसे दृष्टांतों में भी यह उत्तर देना होगा कि यद्यपि एक व्यक्ति अपनी क्रियाओं के संदर्भ में क्रियाशील कर्त्ता माना जा सकता है तथापि उससे उसकी क्रिया करवाने के लिए ईश्वर का अनुग्रह स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार क्योंकि सृष्टि-पालन आदि के समस्त विशेषण संसार के आभास के हैं, वे किसी भी प्रकार भगवान् शिव के स्वरूप को सीमित करते नहीं माने जा सकते। अधिक से अधिक वे ऐसे अनावश्यक गुण माने जा सकते हैं जिनसे हम ब्रह्मन् का स्वरूप का केवल अर्थ बता सकते हैं परंतु उसके अपने वास्तविक स्वरूप तक नहीं पहुँच सकते। कारणता के प्रत्यय की विशेष व्यक्तियों अथवा निर्जीव पदार्थों पर नियुक्ति केवल महत्व के लिए ही हैं, क्योंकि कुछ दृष्टिकोणों से यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति अपने ही कर्मों से मोक्ष प्राप्त करता है जबकि अन्य दृष्टिकोण से व्यक्ति का सम्पूर्ण कर्म ईश्वर के अनुग्रह के कारण माना जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि यदि भगवान शिव सर्व-कृपापूर्ण हैं तब वे समस्त प्राणियों को मोक्ष देकर उनके दुख का निवारण क्यों नहीं कर देते ? इस प्रश्न के लिए यह कहा जा सकता है कि जब केवल मनुष्यों के कर्मों द्वारा अज्ञान का आवरण तथा अशुद्धता हट जाती है तब ही ईश्वर की गतिशील कृपा सदैव मनुष्य को मोक्ष देने में अपने को अभिव्यक्त करती है। अतः दो प्रकार की क्रिया होती हैं—एक स्वयं व्यक्ति द्वारा तथा दूसरी उसके कर्मों के अनुरूप ईश्वर की कृपा के विस्तार द्वारा।

---

[1] मुख्यतः देखिए प्रस्तुत रचना का तीसरा भाग जो वेंकट में शंका की समस्या की व्याख्या करता है।

पुनः जगदाभास का लय जादू से अदृश्य होना नहीं है वरन् प्रकृति के स्थूल रूप का अथवा प्राकृत द्रव्य का उसी प्रकृति के सूक्ष्म रूप में वापस जाना है। संपूर्ण संसार भ्रम नहीं है वरन् एक समय में इसने अपने को प्रकट सत्ता के स्थूल आकार में अभिव्यक्त कर लिया था तथा अंत में यह पुनः प्रकृति अथवा औद्धौम पदार्थ में वापस चली जाएगी। सूक्ष्म प्रकृति के स्वरूप में यह वापस जाना ईश्वर के अनुग्रह द्वारा समस्त प्राणियों के संयुक्त कर्मो के कारण है।

अप्पय की व्यवस्था के आधार पर श्रीकंठ के अनुसार, द्वितीय सूत्र, जो ब्रह्मन् का वर्णन अथवा परिभाषा इस प्रकार करता है कि वह जिसमें से समस्त वस्तुएं उत्पन्न हुई हैं, अंत में जिसमें समस्त वस्तुएं वापस चली जाएंगी तथा जिसमें सब वस्तुओं का पालन होता है, समस्त वस्तुओं की सृष्टि, पालन तथा संहार के इन गुणों का उपादान तथा निमित्त, दोनों को अंतिम निश्चित कारणता के पक्ष के रूप में मानता है, जिसके कारण ईश्वर के रूप में ब्रह्मन् का स्वरूप अनुमित किया जा सकता है। अतः श्रीकंठ तथा अप्पय के अनुसार इस सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' को ब्रह्मन् के स्वरूप के निश्चित अनुमान का कथन मानना चाहिए। शंकर ने अपनी टीका में निश्चित रूप से इंगित किया है कि जो ईश्वर को समस्त वस्तुओं तथा प्राणियों का कारण मानते हैं वे इस सूत्र की व्याख्या अनुमान के उदाहरण के रूप में करते हैं जिससे ब्रह्मन् के निःसीम रूप का प्रत्यक्ष तर्क किया जा सके तथा ऐसी परिभाषा युक्तियाँ बताने के कारण यथेष्ठ हैं, न अधिक विस्तृत न अधिक संकुचित। अतः इस तर्क द्वारा संपूर्ण भौतिक तथा आध्यात्मिक विश्व के महान् तथा निःसीम प्रभु के रूप में ब्रह्मन् को समझा जा सकता है। शंकर निश्चित रूप से ऐसी व्याख्या अस्वीकार करते हैं तथा इसको उन उपनिषदीय मूल ग्रंथों का सामान्य अभिप्राय कहते हुए मानते हैं जो यह कहते हैं कि समस्त वस्तुएं ब्रह्मन् से उत्पन्न हुई हैं तथा समस्त वस्तुएं ब्रह्मन् में तथा ब्रह्मन् द्वारा जीवित रहती हैं तथा अंत में समस्त वस्तुएं ब्रह्मन् में वापस चली जाती हैं। शंकर तथा श्रीकंठ के मध्य मुख्य विवाद का विषय यह है कि जबकि शंकर इस सूत्र को ब्रह्मन् के अस्तित्व के पक्ष में तर्क स्थापित करने के रूप में अस्वीकार कर देते हैं, तथा वह ब्रह्म-सूत्र का उद्देश्य उपनिषदों के विभिन्न मूल ग्रंथों के समाधान तथा संगति लाने के अतिरिक्त और अधिक कुछ नहीं समझते, तब श्रीकंठ तथा अन्य शैव इस सूत्र को निःसीम ब्रह्मन् अथवा भगवान शिव के पक्ष में एक तर्कसिद्ध कथन को मानते हैं।[1]

रामानुज भी इस सूत्र की व्याख्या ब्रह्मन् के अस्तित्व अथवा स्वरूप को स्थापित

---

[1] एतदेवानुमानं संसारिव्-व्यतिरिक्त श्वरास्तित्वादि-सावनं मन्यन्त ईश्वर-कारणिनः। ननु इहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादि सूत्रे, न, वेदान्त-वाक्य-कुसुम-ग्रंथनार्थत्वात्सूत्रा नाम्। ब्रह्मसूत्र १–१–२ पर शंकर का भाष्य।

करने के तर्कसिद्ध कथन के रूप में नहीं करते हैं। उनका विचार है कि उपनिषदीय मूल ग्रंथों के प्रकट रूप में व्याघाती कथनों के समर्थन द्वारा तथा ब्रह्मन् को सृष्टि-पालन तथा क्षय के कारण के रूप में मान लेने से उपनिषदीय मूल ग्रंथों द्वारा ब्रह्मन् के स्वरूप की अनुभूति करना अथवा समझना संभव है।[1]

श्रीकंठ ने ब्रह्मन् के अनेक विशेषणों जैसे, आनंद, सत् एवं ज्ञान आदि के साथ-साथ इस तथ्य की व्याख्या का प्रयत्न किया है कि कुछ मूल ग्रंथों में मूल कारण के रूप में शिव का उल्लेख इस अर्थ में है कि शिव विश्व के मूल तथा अंतिम कारण दोनों ही हैं। ब्रह्मन् पर इन विशेषणों की क्रम से एक के बाद एक अथवा एक साथ नियुक्ति के विषय में वह (श्रीकंठ) कठिनाइयाँ उपस्थित करते हैं। वे पुनः यह कठिनाई उपस्थित करते हैं कि कुछ उपनिषदीय मूल ग्रंथों में अचेतन प्रकृति, माया तथा अचेतन संसार का कारण कहलाती हैं। यदि ब्रह्मन् का स्वरूप ज्ञान अथवा चित् है, तब वह स्वयं को भौतिक संसार के आकार में रूपांतरित नहीं कर सकता था। शुद्ध चैतन्य का भौतिक विश्व में रूपांतर का अर्थ होगा कि ब्रह्मन् परिवर्तनशील है तथा यह इस उपनिषदीय कथन का व्याघात करेगा कि ब्रह्मन् सर्वथा कर्मरहित है तथा निष्क्रिय अवस्था में है। इस दृष्टिकोण से विरोधी यह कह सकता है कि उपनिषद् में उन समस्त विशेषणों से जिनसे ब्रह्मन् विशेषित है, एक साथ उस पर नियुक्ति नहीं की जा सकती तथा उन्हें एकत्रित रूप में ब्रह्मन् के स्वरूप के परिभाषित लक्षणों के रूप में नहीं लिया जा सकता। अतः श्रीकंठ का विचार है कि ब्रह्मन् के लिए प्रयुक्त गुणवाची शब्द सत्य, चित एवं आनंद आदि को महेश्वर के व्यक्तिगत गुणों के रूप में लेना होगा। अतः ब्रह्मन् को शुद्ध व चित् मानने के स्थान पर श्रीकंठ महेश्वर को जो सदैव सर्वज्ञ, सदैव स्वयं-संतुष्ट तथा स्वतंत्र मानते हैं अर्थात् वह जो सदैव बल अथवा शक्ति निहित रखता है तथा जो सर्वशक्तिमान है; वह सदैव (नित्य अपरोक्ष) विद्यमान है तथा अपनी शक्ति अथवा बल के संपादन के लिए किसी बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं है (अनपेक्षित बाह्य कारण)। अतः भगवान शिव सर्वज्ञ होने के कारण समस्त चेतन प्राणियों के कर्मों का तथा इन समस्त कर्मफलों का, जिनके वे अधिकारी हैं, ज्ञान रखते हैं तथा उन्हें शरीरों के उन आकारों का भी ज्ञान है जो पूर्व कर्मों के अनुसार इन चेतन आत्माओं को प्राप्त होने चाहिएं तथा इस प्रकार शिव को उन पदार्थों के संग्रह का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है जिनसे इन शरीरों का निर्माण होना है।[2] इस तथ्य

---

[1] ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर रामानुज का भाष्य।

[2] अनेन सकल-चेतन बहु-विध-कर्म-फल-भोगानु कूल-तत्तच्चरीर-निर्माणोपाय-सामग्री-विशेषज्ञं ब्रह्म निमित्तं भवति।

ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १२१।

की व्याख्या कि ब्रह्मन् आनंद के रूप में वर्णित है, इस अर्थ में की गई है कि भगवान् शिव सदैव आनंदपूर्ण तथा स्वयं-संतुष्ट हैं।[1]

उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्मन् का शरीर आकाश है (आकाश शरीरम् ब्रह्म)। कुछ उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि यह आकाश आनंद है। श्रीकंठ कहते हैं कि यह आकाश भूताकाश नहीं है, इसका अर्थ केवल चित्त के स्तर से है (चिदाकाश) तथा इस प्रकार इसका अर्थ अनंत पदार्थ (पर-प्रकृति) से है जो अनंत शक्ति ही है। अप्पय इंगित करते हैं कि ऐसे व्यक्ति हैं जिनका विचार है कि चेतना की शक्ति विश्व की सृष्टि के साधन के समान है जिस प्रकार वृक्ष काटने के लिए कुल्हाड़ी होती है। परंतु अप्पय इस विचार को अस्वीकार कर देते हैं तथा मानते हैं कि अनंत शक्ति आकाश कहलाती है।[2] चित् की यही शक्ति (चिच्छक्ति) सब वस्तुओं में व्यापक मानी जाती है तथा यही शक्ति विश्व की सृष्टि के लिए रूपांतरित होती है। इस चिच्छक्ति को जीवन की मूल शक्ति मानना होगा जो अपने को जीवन की क्रियाओं से अभिव्यक्त करती है। समस्त प्रकार की जीवन क्रियाएँ तथा सुख के समस्त अनुभव इस अनंत जीवन-शक्ति के निम्न अथवा उच्चस्तर पर निर्भर हैं जो चिच्छक्ति अथवा आकाश भी कहलाती हैं।

पुनः ब्रह्मन् को सत्, चित् तथा आनंद के स्वरूप के रूप में वर्णित किया है। इस दृष्टांत में यह माना गया है कि बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के ब्रह्मन् अपने स्वयं के आनंद का उपभोग करता है तथा इसी कारण मुक्त आत्माएं बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के सर्वोत्तम आनंद का अनुभव कर सकती हैं। चित् के रूप में सत्य शुद्ध आनंद के उस रूप का ही सत्य है, जो अमूर्त गुणों के रूप में नहीं वरन् भगवान शिव के शरीर से अवलम्बित मूर्त्त गुणों के रूप में अपने अस्तित्व में नित्य हैं। अतः यद्यपि ब्रह्मन् अथवा भगवान शिव अपने में सर्वथा अपरिवर्तनशील हो तथापि उसकी शक्ति उन रूपांतरों में हो सकती है जिनसे इस संसार की सृष्टि हुई है। इस प्रकार ब्रह्मन् में चित् की शक्ति तथा भौतिक शक्ति दोनों हैं, जो विश्व के तत्व का निर्माण करती हैं (चिदचित्पपंच-रूप शक्ति विशिष्टत्वम् स्वाभाविकमेव ब्रह्मणः)। उन शक्तियों में तथा उनके द्वारा ब्रह्मन् विश्व के उपादान कारण की रचना कर सकते हैं क्योंकि उसकी शक्ति असीम है। क्योंकि सभी बाह्य वस्तुओं के लिए यह कहा जाता है कि वह 'सत्ता' जो उन सबमें व्याप्त है, एक सामान्य तत्व के रूप में होती है,

---

[1] परब्रह्म-धर्मत्वेन च स एव आनन्दो ब्रह्मेति प्रचुरत्वाद् ब्रह्मत्वेनोपचर्यते। तादृशानन्द-भोग-रसिकं-ब्रह्मनित्य-तृप्तमित्युच्यते।

ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १२२।

[2] यस्य सा परमा देवी शक्तिराकाश संज्ञीता।

अप्पय की टीका, भाग १, पृ० १२३।

इस कारण वह ब्रह्मन् की 'सत्ता' के उस पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें वह संसार का उपादान कारण है। महेश्वर, शर्व महेश्वर कहलाते हैं क्योंकि समस्त वस्तुएं अंत में उसमें लय हो जाती हैं। वह ईशान कहलाता है क्योंकि वह समस्त वस्तुओं पर प्रभुत्व करता है अतः वह पशुपति भी कहलाता है। 'पशुपति' विशेषण से यह सूचित होता है कि वह केवल समस्त आत्माओं (पशु) का ही प्रभु नहीं है वरन् उस समस्त का भी प्रभु है जो उन्हें बंधन में बद्ध करता है (पाश)। इस प्रकार ब्रह्मन् चेतन सत्ताओं तथा भौतिक संसार का नियंता है।[1]

यह कहा गया है कि माया आद्य द्रव्य है, प्रकृति, विश्व का उपादान कारण है। परन्तु कहा जाता है कि ईश्वर अथवा भगवान् शिव सदैव माया से संयोजित हैं अर्थात् माया से सर्वथा परे उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। इस मत के अनुसार यदि माया विश्व का उपादान कारण मानी जाएगी तब भगवान् शिव को भी, जो माया से संबंधित हैं, किसी अस्पष्ट अर्थ में विश्व का उपादान कारण मानना होगा। अतः अंतिम निष्कर्ष यह है कि सूक्ष्म चेतना तथा सूक्ष्म पदार्थ से संबंधित रूप में ब्रह्मन्, कारण है तथा विश्व कार्य है जो केवल स्थूल पदार्थ से संबंधित स्थूल चित् है।[2] वास्तव में यह सत्य है कि उत्पत्ति, पालन तथा संहार के तथ्य विशेषण हैं जो केवल दृष्टि विषयक, संसार पर ही नियुक्त किए जा सकते हैं अत: वे तर्क सिद्ध कथन के रूप में ब्रह्मन् के स्वरूप को निश्चित करते हुए आवश्यक गुण नहीं माने जा सकते। फिर भी संसार प्रपंच की उत्पत्ति, पालन तथा संहार ब्रह्मन् के स्वरूप के अस्थाई पक्ष (तटस्थ लक्षण) माने जा सकते हैं। यह भी ध्यान देना है कि जब ईश्वर की नियंत्रण-शक्ति के द्वारा माया अपने को संसार में रूपांतरित कर लेती है, तब माया से अनंत संबंध होने के कारण ईश्वर स्वयं किसी अर्थ में संसार का उपादान कारण भी माना जा सकता है यद्यपि परात्पर रूप से वह माया से परे रहता है। इस विचार तथा रामानुज के विचार में यह अंतर है कि रामानुज के अनुसार ब्रह्मन् एक मूर्त

---

[1] अनेन चिदचिन्नियामकं ब्रह्मेति विज्ञायते।

ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १२७।

[2] 'मायां तु प्रकृतिं विदयाद् इति मायायाः प्रकृतित्वं ईश्वरात्मिकाया एव मायिनं तु महेश्वरम्' इति वाक्यशेषात्। सूक्ष्म-चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणं स्थूल-चिदचिद्विशिष्टम् तत्कार्यं भवति। -ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १३४। सत्यं मायोपादामिति ब्रह्मापि उपादानमेव। अपृथक्-सिद्ध-कार्यावस्था श्रेयत्व-रूपं हि मायाया उपादानत्वं समर्थनीयम्। तत्समर्थ्यमानमेव ब्रह्म-पर्यन्तमायाति। नित्ययोगे खलु मायिनमिति माया-शब्दादि निप्रत्ययः। ततश्च मायायाः ब्रह्म-पृथक् सिद्धयैव तदपृथक्-सिद्धायाः कार्यावस्थाया अपि ब्रह्मापृथक् सिद्धिस् सिद्धयति।

-अप्पयदीक्षित की टीका, भाग १, पृ० १३४।

सामान्य है जिसमें संपूर्ण भौतिकता है तथा जिससे आत्माओं के समुदाय सदैव उसी प्रकार संबंधित तथा प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित होते हैं जिस प्रकार एक व्यक्ति के अंग स्वयं व्यक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह प्रत्यय एक संपूर्ण संगठन का है जिसमें ब्रह्म संगठन है तथा आत्माओं एवं पदार्थों का संसार उसके द्वारा शासित पूर्ण रूपेण उसका भाग है। शंकर का मत इससे सर्वथा भिन्न है। वह मानते हैं कि सूत्र का मुख्य अर्थ मूल ग्रंथों की केवल एक व्याख्या है जो यह दिखाता है कि संसार ब्रह्मन् से उत्पन्न हुआ है, उसमें पालित है तथा अंत में उसमें वापस चला जाएगा। परंतु इससे यह घोषित नहीं होता कि संसार का यह आभास परम सत्य है। शंकर का आभास के वास्तविक स्वरूप से कोई संबंध नहीं है, परंतु उनका चित् आनंत तथा अपरिवर्तनशील अधिष्ठान पर केंद्रित है जो सदैव सत्य रहता है तथा जो दृष्टिगोचर संसार के समान केवल सापेक्ष सत्य नहीं है।[1] हमने ऊपर लिखा है कि श्रीकंठ दूसरे सूत्र को ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान सूचित करते हुए मानते हैं। परंतु बाद के तर्कों में वे दूसरी ओर जाते प्रतीत होते हैं तथा ब्रह्मन् के अस्तित्व को वेदों के प्रमाण द्वारा प्रमाणित मानते हैं। संपूर्ण विश्व के उद्देश्य की एकता का सामान्य तर्क आवश्यक रूप से एक सृष्टा को स्वयं सिद्ध मान लेने की ओर नहीं ले जा सकता क्योंकि एक भवन अथवा मंदिर जो उद्देश्य की एकता दर्शाता है, वास्तव में अनेक शिल्पकारों तथा कारीगरों द्वारा कार्यान्वित होता है। उनका यह भी विचार है कि ईश्वर ने वेदों की उत्पत्ति की है। यह भी किसी प्रकार उसके अस्तित्व का अतिरिक्त प्रमाण माना जा सकता है। ब्रह्मन् का स्वरूप भी उन भिन्न उपनिषदीय मूल ग्रंथों के समाधान द्वारा ज्ञात किया जा सकता है जो सब भगवान् शिव के परम अस्तित्व को इंगित करते हैं। ब्रह्मसूत्र २-१-१८-१९ में श्रीकंठ कहते हैं कि अपने में संकुचित ब्रह्मन् कारण है, परन्तु जब वह अपनी आंतरिक कामना द्वारा अपने को विस्तृत कर लेता है तब वह स्वयं को तथा विश्व को दर्शाता है, जो उसका कार्य है।[2] यह विचार वल्लभ के विचार के लगभग समान है तथा श्रीकंठ द्वारा १-१-२ में दिए गए ब्रह्म के विचार से विशेष रूप से भिन्न है। अपने विचार की पुनः व्याख्या करते हुए श्रीकंठ कहते हैं कि वह ब्रह्मन् को विश्व का अंतिम उपादान-कारण इसी अर्थ में स्वीकार करते हैं कि

---

[1] शंकर तथा उनके संप्रदाय के विचार के लिए देखिए भाग १ तथा २। रामानुज तथा उनके संप्रदाय के विचार के लिए देखिए भाग ३।

[2] 'चिदात्मैव हि देवो' न्तः-स्थितमिच्छा-वशाद् वहिः। योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेद् इति। निरुपादानमिति अनेपेक्षितोपादानान्तरं स्वयं उपादानं भत्वेत्यर्थः। ततः परम-कारणात्परब्रह्मनः शिवादभिन्नमेव जगत्कार्यमिति-यथा संकुचितः सूक्ष्म-रूपः पटः प्रसारितो महापटकुटी रूपेण कार्यं भवति, तथा ब्रह्मापि संकुचित रूपं कारणं प्रसारित-रूपं कार्य भवति। —श्रीकंठ का भाष्य, भाग २, पृ० २९।

प्रकृति, जिससे संसार विकसित होता है, स्वयं ब्रह्मन् में है। क्योंकि ब्रह्मन् अपनी शक्ति के अतिरिक्त नहीं रह सकता, अतः वह संसार का उपादान कारण माना जा सकता है यद्यपि वह अपने में परात्पर रहता है तथा केवल उसकी माया ही, संसार की उत्पत्ति में अंतर्निहित कारण के रूप में कार्य करती है। इस प्रकार वे कहते हैं कि जीवों तथा ब्रह्म में भेद हैं एवं प्रकृति तथा ब्रह्मन् में भेद हैं। वह यह स्वीकार नहीं करेंगे कि संसार-प्रपंच, ब्रह्मन् से सर्वथा भिन्न है, न ही वह यह स्वीकार करेंगे कि वे सर्वथा अभिन्न हैं। उनकी स्थिति रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के समान विशिष्टाद्वैती जैसी है। जीव तथा निर्जीव संसार से परे ब्रह्मन् का अस्तित्व सर्वथा अनुभवातीत है। परंतु फिर भी, क्योंकि जीव तथा भौतिक संसार उसकी शक्ति से उत्पादित है, इसलिए चित्-अचित् मय यह संसार उनके अंश माने जा सकते हैं यद्यपि वह इनसे परे हैं।[1]

नैतिक उत्तरदायित्व तथा ईश्वर का अनुग्रह

प्रश्न यह है कि महाप्रभु ने सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि क्यों की? वह सदैव स्वानुभवपूर्ण तथा स्वयं संतुष्ट हैं तथा उन्हें कोई अनुराग एवं घृणा नहीं है। वह नितांत तटस्थ तथा अपक्षपाती है। तब फिर वह ऐसे संसार की सृष्टि क्यों करे जो कुछ के लिए आनंद से पूर्ण है (उदाहरणार्थ देवता) तथा दूसरों के लिए दुख तथा चिंताओं से पूर्ण है। स्वाभाविक रूप से यह हमें पक्षपात तथा कठोरता के आरोप की ओर प्रवृत्त करेगा। इसके अतिरिक्त क्योंकि सृष्टि से पूर्व अवश्य ही संहार हुआ होगा इसलिए यह आवश्यक रूप से तर्क किया जाएगा कि ईश्वर स्वयं इतना कठोर है कि केवल कठोरतावश वह विश्व-संहार में लग जाता है। अतः सामान्यतः यह तर्क किया जा सकता है कि ईल्वर का ऐसे संसार की सृष्टि करने का क्या उद्देश्य है जो हमारी अपनी कामनाओं एवं मूल्यों की प्राप्ति का क्षेत्र नहीं है। इसका यह उत्तर दिया गया है कि ईश्वर कर्म तथा कर्म फलों की विभिन्नताओं के अनुरूप संसार की सृष्टि तथा संहार में लगता है।

---

[1] भेदाभेद-कल्पनं विशिष्टाद्वैतं साधयामः न वयं ब्रह्म-प्रपंचयोरत्यन्तमेव भेदवादिनः घट पटयोरिव। तदनन्यत्वपर श्रुति-विरोधात्। न वाऽत्यन्ता-भेदवादिनः शुक्ति-रजतयोरिव। एकतर मिथ्यात्वेन तत्स्वाभाविकगुणभेद-परश्रुति-विरोधात्। न च भेदाभेदवादिनः, वस्तुविरोधात्। किन्तु शरीर-शरीरिणोरिव गुण-गुणिनोरिव च विशिष्टाद्वैत-वादिनः प्रपंच-ब्रह्मणोरनन्यत्वं नाम मृद्-घटयोरिव गुण-गुणिनोरिव च कार्य-कारणत्वेन विशेषण-विशेष्यत्वेन च विनाभावरहितत्वम्।

—ब्रह्मसूत्र २-२-२२ पर श्रीकंठ का भाष्य, भाग २, पृ० ३१।

यह तर्क नहीं किया जा सकता कि सृष्टि से पूर्व आत्मा का अस्तित्व नहीं था क्योंकि उपनिषदों में कहा गया है कि ईश्वर तथा आत्माओं का अस्तित्व नित्य है। क्योंकि आत्माएँ अनादि हैं अतः उनके कर्म भी अनादि है। इससे अनवस्था उत्पन्न हो सकती है किन्तु यह अनवस्था दोषपूर्ण नहीं है। संसार में भिन्न शरीरों में जन्म-मृत्यु का क्रम अनादि कर्म के चक्र में निहित हैं। क्योंकि ईश्वर अपनी सर्वज्ञता के कारण अनुभूति द्वारा उन अनेक प्रकार के कर्मो का जो व्यक्ति द्वारा किए जाएँगे प्रत्यक्ष ज्ञात कर लेता है अतः उसके द्वारा प्रत्याशित ऐसे कर्मो के उपभोग तथा दण्ड के लिए वह उपयुक्त शरीरों तथा परिस्थितियों का प्रावधान करता है। अतः सृष्टि में विभिन्नता व्यक्ति के कर्मो की अनेकरूपता के कारण है। प्रलय का समय तब आता है जब आत्माएँ जन्म तथा मृत्यु के क्रम से थक जाती है तथा शान्त हो जाती हैं एवं उन्हें स्वप्न-रहित निद्रारूपी विश्राम की आवश्यकता होती है। अतः संहार का कार्यान्वित करना ईश्वर की क्रूरता सिद्ध नहीं करता।

जब समस्त प्राणियों के सुख व दुःख उनके कर्मो पर निर्भर हैं तब किसी भी प्रकार के ईश्वर को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? उत्तर है कि कर्म का नियम ईश्वर के संकल्प पर निर्भर है तथा यह व्यक्ति की स्वेच्छा या स्वायत्त विधि से नहीं होता, न ही यह ईश्वर की स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता का अवरोध करता है। किन्तु यह घुमा फिराकर हमें उसी स्थिति की ओर ले जायगा क्योंकि जब मनुष्यों के सुख व दुःख मनुष्यों के कर्मो तथा कर्म के नियम पर निर्भर हैं तथा कर्म का नियम ईश्वर के संकल्प पर निर्भर है तो वास्तव में इसका अर्थ यह है कि प्राणियों के सुख व दुःख अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के पक्षपात के कारण हैं।

फिर चूँकि कर्म तथा कर्म का नियम दोनों ही बुद्धिरहित हैं, अतः ईश्वर की बुद्धि द्वारा उनका सम्पादन आवश्यक है। तब, सृष्टि के पूर्व जब प्राणी जन्म और मृत्यु के चक्र से रहित होते हैं, किसी शरीर से युक्त नहीं होते और आनन्द की स्थिति में होते है—तो फिर ईश्वर उन्हें जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में क्यों फँसा देता है और क्यों इतना कष्ट सहने को छोड़ देता है? उत्तर है कि चूँकि ईश्वर अपना अनुग्रह सबको प्रदान करता है (सर्वानुग्राहक परमेश्वर) अतः उसे ऐसा करना होता है, क्योंकि बिना कर्मफल (कर्मपाकमन्तरेण) के शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता, और बिना शुद्ध ज्ञान के चरम आनंद के उपभोग रूपी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, साथ ही सुख व दुःख द्वारा कर्म-फल का पूर्ण उपभोग किए बिना ऐसे अनुरूप शरीर नहीं हो सकते जिनके द्वारा आत्माएँ कर्मफल का उपभोग अथवा कष्ट सहन कर सकते हैं, अतः शरीर का उन समस्त आत्माओं से संयोजित होना आवश्यक है जो प्रलय के समय निष्क्रिय पड़े हुए थे। अतः जब इस प्रकार, सुख व दुःख द्वारा व्यक्ति के कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा प्राणियों की बुद्धि शुद्ध

हो जाती है, केवल तब ही मोक्ष के परम आनन्द की ओर प्रवृत्त करता हुआ आत्मज्ञान उदित हो सकता है।

पुनः, यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ईश्वर सर्वथा अनुग्राहक है तब वह एक ही समय में समस्त व्यक्तियों के कर्मों के फलित होने का प्रबंध क्यों नहीं करता तथा क्यों नहीं उन्हें मोक्ष के आनंद का अनुभव करने देता ? उत्तर यह है कि, यदि ईश्वर समग्र व्यक्तियों के प्रति एक रूप से अपना अनुग्रह प्रदान कर भी देता तब वे, जिनके मल नष्ट हो चुके हैं, मुक्त हो जाते तथा वे जिनके कुछ मल अब भी रह गए हैं, केवल काल के अनुसार ही मोक्ष प्राप्त कर सकते। इस प्रकार, यद्यपि ईश्वर सदैव आत्म-संतुष्ट है, तथापि उसे केवल समस्त प्राणियों के लाभ के लिए कार्य करना होता है।

अप्पय की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि 'अनुग्रह' शब्द 'उन्होंने 'न्याय' के अर्थ में लिया है। अतः ईश्वर केवल अपना अनुग्रह ही प्रदान नहीं करता वरन् उसका अनुग्रह व्यक्तियों के कर्मों के अनुरूप न्याय की एक प्रक्रिया है, अतः वह पक्षपाती अथवा कठोर नहीं माना जा सकता।[1] अप्पय इस आपत्ति को पहले से अनुमानित करते हैं कि इस विचार में ईश्वर के निरपेक्ष प्रभुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह केवल कर्म के नियम के अनुरूप सुख व दुःख प्रदान करता है। अतः यह कहना निरर्थक है कि वह ईश्वर ही है जो जब किसी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अवनत अथवा करना उत्पन्न चाहता है तब वह उससे पाप अथवा शुभ कर्म करवाता है। क्योंकि ईश्वर अपने स्वयं के संकल्प द्वारा किसी से अशुभ अथवा शुभ कर्म नहीं करवाता है वरन् व्यक्ति स्वयं पूर्व सृष्टि में प्राप्त अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है तथा कर्म के नियम की पूर्ति के लिए, उन कर्मों के अनुरूप ही नई सृष्टि का निर्माण होता है।[2] अप्पय पुनः कहते हैं कि शुभ अथवा अशुभ कर्म केवल व्यक्तियों के अंतःकरण के गुण हैं। प्रलय के समय यह अंतःकरण भी माया में विलीन हो जाते हैं जहाँ वे अचेतन संस्कारों या वासनाओं के रूप में रहते हैं तथा वहाँ रहने से नई सृष्टि में उन्हें व्यक्तिगत शरीरों तथा उनकी क्रियाओं के रूप में उसी प्रकार उत्पन्न किया जा सकता है क्योंकि यद्यपि वे माया में विलीन हो गए थे तथापि वे परस्पर एकीभूत नहीं होते तथा आगामी जन्म में

---

[1] एवं च यथा नरपतिः प्रजनां व्यवहार-दर्शने तदीय युक्तायुक्त-वचनानुसारेण अनुग्रह-निग्रह-विशेषं कुर्वन् पक्षपातित्व-लक्षणं वैषम्यं न प्रतिपद्यते एवमीश्वरोऽपि तदीय-कर्म-विशेषानुसारेण विषमसृष्टिं कुर्वन्न तत्प्रतिपद्यते।

—अप्पय दीक्षित की टीका, भाग २, पृ० ४७०।

[2] परमेश्वरो न स्वयं साध्वसावूनि कर्माणि कारयिति तै सुख-दुःखादीनि च नोत्पादयति, येन तस्य वैषम्यमापतेत्। किन्तु प्राणिन एव तथाभतानि कर्माणि यानि स्व-स्व-रुच्यनु-सारेण पूर्वसर्गेषु कुर्वन्ति तान्येव पुनस्सर्गेषु विषम-सृष्टि-हेतव भवन्ति।

—तत्रैव भाग २, पृ० ४८।

प्रत्येक अपनी विशेष बुद्धि तथा कर्मों से संयोजित हो जाते हैं।[1] उन आगमों में जहाँ ३६ तत्त्वों की गणना की गई है नियति के नाम से कर्म नियम भी उन तत्त्वों में से एक माना गया है। यद्यपि नियति का तत्त्व स्वीकार किया गया है, तथापि यह अविवेकी रूप में नहीं वरन् केवल ईश्वर के निरीक्षण में ही क्रिया कर सकता है, जिससे एक व्यक्ति के कर्म अथवा कर्मफलों का दूसरे द्वारा अपहरण न हो जाय। शुद्ध नियति अथवा कर्म का नियम ऐसा नहीं कर सकता था। जिस विचार का यहाँ समर्थन किया गया है वह यह है कि जब संहार के समय समस्त कर्म गहरी निद्रा की अवस्था में होते हैं, ईश्वर उन्हें जागृत करता है तथा उनके अनुरूप शरीर की रचना में सहायता देता है तथा अलग-अलग आत्माओं को उनके शरीरों से संयोजित करता है एवं उनको, उनके कर्मों के अनुरूप सुख अथवा दुःख का अनुभव करवाता है।

यह समस्या अभी भी अस्पष्ट है कि हम किस प्रकार समस्त व्यक्तियों के इच्छा स्वातंत्र्य का ईश्वर द्वारा किए निश्चय के साथ सामंजस्य बिठाएँगे ? यदि ईश्वर हमारे शुभ या अशुभ रीति से कार्य करने के लिए उत्तरदायी समझा जाता है तब ईश्वर द्वारा निर्धारण को अनादि जीवनों पर छोड़ने से, समस्या के समाधान में सहायता नहीं मिलती। यदि ईश्वर निश्चय कर लेता है कि हमें अमुक रीति से इस जीवन में व्यवहार करना है तथा यदि वह रीति हमारे पूर्व-जन्म के कर्मों द्वारा निश्चित की गई है उस जन्म की रीति उससे पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा; तब जब हम प्रारंभिक निश्चय को खोजते हैं, तो हमारे लिए यह स्वीकार करना आवश्य हो जाता है कि ईश्वर पक्षपाती है, क्योंकि किसी दूरस्थ काल में उसने अवश्य ही हमारा भिन्न प्रकार से क्रिया करना निश्चित किया होगा तथा वह हमसे क्रिया करवाता है एवं उसके अनुरूप सुख व दुःख का अनुभव करवाता है। इस प्रकार अंतिम उत्तरदायित्व ईश्वर का है। इसके उत्तर में अप्पय, श्रीकंठ की टीका की व्याख्या करते हुए यह मानते हैं कि हमारा सबका अशुद्धियों के साथ जन्म हुआ था। हमारा बंधन उस आवरण के साथ है जो हमारा विवेक तथा कर्म ढक लेता है तथा ईश्वर जिसे नित्य तथा अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं, हमसे इस प्रकार के कर्म करवाने का प्रयत्न करता रहता है जिनसे अंत में हम अपने को शुद्ध कर सकें तथा अपने को उसके समान बना सकें। स्वाभाविक रूपांतर द्वारा हमारी अशुद्धियों का संहार शरीर में उस फोड़े अथवा घाव के समान है जो कुछ कष्ट देने के पश्चात् ही अदृश्य हो जाता है। नित्य तथा नैमित्तिक वैदिक धर्म हमें

---

[1] परमेश्वरस्तु पूर्व-सर्ग-कृतानां तत्तदन्तःकरण-धर्मरूपाणां साध्व साधु कर्मणां-प्रलये सर्वान्तः-करणानां विलीनतया मायायामेव वासना-रूपतया लग्नानां केवलं असंकरेण फल-व्यवस्थापकः। अन्यथा मायायां संकीर्णेषु कर्मफलं अन्यो गृह्णीयात्।

—अप्पय दीक्षित की टीका, भाग २, पृ० ४८।

इन अशुद्धियों से मुक्त होने में सहायता करते हैं जिस प्रकार औषधि घाव के आरोग्य में सहायता करती है तथा इसके कारण जन्म व मृत्यु का चक्र आवश्यक हो सकता है। हमारे कर्मों के फलित होने पर ही उनसे ज्ञान उदित हो सकता है। इसी प्रकार वेदों में निर्धारित नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों के संपादन द्वारा हमारे कर्म परिपक्व होते हैं तथा हम में वैराग्य की भावना, शिव के प्रति भक्ति तथा उसके प्रति जिज्ञासा उदित होती है जो अंत में हम में विवेक उत्पन्न करती है जो मोक्ष की ओर प्रवृत्त करता है। संसार में प्राप्त आवरण के बिना या उसके बाहर व्यक्ति के कर्म फलित नहीं हो सकते। अतः अनंत मोक्ष के लिए कुछ कार्यों का करना हमारे लिए आवश्यक है। ईश्वर हमसे इन कार्यों को करवाता है तथा हमारे कर्मों के अनेक रूपों के अनुसार वह भिन्न प्रकार के शरीरों का सृजन करता है, हमसे ऐसे कार्य करवाता है जिनसे हम दुःख भोगें, जिसके द्वारा हम धीरे-धीरे मोक्ष के अंतिम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकें। हमारी प्रारंभिक अशुद्धियों तथा क्रियाओं की विभिन्नता के अनुसार हमसे भिन्न प्रकार के कर्म करवाए जाते हैं जिस प्रकार एक चिकित्सक भिन्न प्रकार के रोगों के लिए भिन्न प्रकार की चिकित्सा निर्धारित करता है। यह सब ईश्वर के परम अनुग्रह के कारण है। श्रीकंठ का 'कर्म' शब्द के प्रयोग से अभिप्राय यही है, कि कर्म वे हैं जिनके कारण ईश्वर की कारणता द्वारा जन्म व पुनर्जन्म का कालचक्र संभव हो सके।[1] अवश्य ही प्रलय में कर्मों के फलित होने अथवा उनकी पूर्ति होने की कोई प्रक्रिया नहीं हो सकती अतः वह अवस्था समस्त प्राणियों को विश्राम देने के लिए है।

ब्रह्म-सूत्र २-३-४१ में श्रीकंठ निश्चित रूप से स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं कि जीव स्वयं इस प्रकार के कार्य करते हैं जो पूर्व कर्मफलों के अनुरूप उनके विशेष प्रकार के कार्य करने अथवा विशेष प्रकार के कार्य नहीं करने का, कारण माने जा सकते हैं। आगे यह कहा गया है कि जब एक व्यक्ति किसी विशेष प्रकार से क्रिया करने अथवा विशेष क्रिया से निवृत्ति की कामना करता है, तब ईश्वर केवल उसकी सहायता करता है। अतः अंत में एक व्यक्ति अपने संकल्पों के लिए स्वयं उत्तरदायी है जिनका वह व्यावहारिक क्षेत्र में अनुसरण ईश्वर की इच्छा द्वारा कर सकता है। मनुष्य का उत्तर-दायित्व उसके संकल्प की स्थापना तथा संकल्प को कार्यान्वित करने में होता है तथा हमारे चारों ओर के बाह्य संसार में हमारे संकल्प को कार्यान्वित करने में ईश्वर का संकल्प हमें सहायता देता है। मनुष्य अपने कार्यों को इस प्रकार करता है कि जिनके अनुसार उसके हित सर्वोत्तम रूप से संतुष्ट हो सकें। अतः वह अपने कर्मों के लिए

---

[1] भाष्य "कर्म पाकमन्तरेणे" इत्यादि—वाक्येषु कर्म शब्द "क्रियते अनेन संसार" इति करणव्युत्पत्त्या वा परमेश्वरेणापक्वः क्रियत इति कर्म—व्युतपत्त्या वा मलावरणपरो दृष्टव्य।
—अप्पय दीक्षित की टीका भाग २, पृ० ५०।

उत्तरदायी है, यद्यपि संकल्प के वास्तविक रूप से कार्यान्वित होने के लिए वह ईश्वर पर निर्भर है। अतः ईश्वर पर पक्षपात अथवा कठोरता का आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि ईश्वर केवल अपने संकल्प तथा आंतरिक प्रयत्नों के अनुसार जीवों को कर्म करने की ओर प्रवृत्त करता है।[1]

किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि अप्पय के विचारानुसार मानव-संकल्प के आंतरिक प्रयत्नों के उपरांत भी व्यक्ति पूर्णरूप से ईश्वर द्वारा शासित है। इस प्रकार अप्पय इच्छा स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ते हैं।[2]

ब्रह्मसूत्र २-२-३६-३८ में श्रीकंठ, शंकर के इस मत का खंडन करने का विशेष प्रयत्न करते हैं कि शैव इस सिद्धांत पर विश्वास करते थे कि ईश्वर संसार का निमित्त कारण था तथा इस रूप में उसका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जा सकता है। वह इस मत का भी खंडन करते हैं कि ब्रह्मन् अथवा शिव ने प्रकृति अथवा आद्य पदार्थ में प्रवेश किया था तथा इस प्रकार विश्व में उसके विकास तथा रूपांतर की प्रक्रिया का निरीक्षण किया। क्योंकि उस स्थिति में प्रकृति से संबंधित सुख तथा दुःख के अनुभव उसके लिए संभव हो जाते हैं। अतः श्रीकंठ मानते हैं कि शैव विचारानुसार ब्रह्मन् विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही है तथा वह केवल तर्क द्वारा नहीं वरन् वैदिकधर्म-पुस्तकों द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। स्पष्ट है कि यहाँ पर श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित विषय के विचार में अस्थिरता है। यहाँ तथा उनकी रचना के प्रारंभिक भाग में, जैसा कि इंगित किया गया है, श्रीकंठ यह घोषित करते हैं कि यद्यपि ईश्वर विश्व का उपादान-कारण है, तथापि किसी प्रकार वह संसार के परिवर्तनों से अप्रभावित है।[3] अनंत ब्रह्मन् अथवा शिव, चित् तथा अचित् (जो दोनों साथ चिच्छक्ति कहलाते हैं) की सूक्ष्म शक्ति से संयोजित हैं तथा चिच्छक्ति से संयोजित होने के कारण भगवान् शिव एक हैं तथा समस्त वस्तुओं से परे हैं। जब सृष्टि के प्रारम्भ में इस परम माया अथवा चिच्छक्ति से रचनात्मक माया निकलती है, जिसकी सर्पवत् गति है, तब वह शक्ति समस्त संसार का उपादान कारण बन जाती है। इसी से चार तत्त्व निकलते हैं—जैसे

---

[1] अतो जीव-कृत-प्रयत्नापेक्षत्वात् कर्मसु जीवस्य प्रवर्तक ईश्वरो न वैषम्यभाक्। तस्यापि स्वाधीन-प्रवृत्ति-सद्भावात् विधि-निषेधादि-वैयर्थ च न संभवतीति सिद्धम्।
—ब्रह्मसूत्र २-३-४१ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १५७।

[2] तथा च परमेश्वर—कारित-पूर्व-कर्म-मूल-स्वेच्छाधीने यत्ने परमेश्वराधीनत्वन्न हीयते।
—अप्पय की टीका भाग २, पृ० १५६।

[3] जगदुपादन-निमित्त-भूतस्यापि परमेश्वरस्य 'निष्कलम् निष्क्रियम्' इत्यादि श्रुतिभि-र्निविकारत्वमप्युपपद्यते।
—ब्रह्मसूत्र २-२-३८ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १०९।

शक्ति, सदाशिव, महेश्वर तथा शुद्ध विद्या। तत्पश्चात् मिश्रित स्वरूप की निम्न माया आती है जो वास्तव में संसार तथा शरीरों की प्रत्यक्ष उपादान-कारण है। तत्पश्चात् आते है काल, नियति, विद्या, राग तथा आत्माएँ। दूसरे क्रम में अशुद्ध माया से, समस्त संसार तथा जीवित प्राणियों के शरीर आते हैं। इससे बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच प्रकार की ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियाँ, तन्मात्रा नामक स्थूल पदार्थ के पाँच प्रकार के कारण तथा पदार्थ के पाँच प्रकार के तत्त्व भी आते हैं। इस प्रकार तेईस तत्व हैं। पूर्व के तत्त्वों की गणना कर लेने के पश्चात् कुल छत्तीस तत्त्व बनते हैं। यह तत्त्व शैव मूल ग्रंथों में भली प्रकार निर्दिष्ट हैं तथा उनकी वहाँ स्थापना, तार्किक प्रमाणो से तथा धार्मिक मूल ग्रंथों के प्रमाण के आधार पर, दोनों से ही हुई है। जैसाकि पहले दिखाया गया है शुद्ध माया तथा अशुद्ध माया में अंतर किया गया है। अशुद्ध माया अपने में समस्त कार्यों, जैसे, काल तथा अशुद्ध आत्माओं को सम्मिलित करती है। 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग उपादान कारण अथवा बुद्धि सहित केवल भौतिक संसार के निर्देश के लिए हुआ है।

शक्ति द्वारा भी कभी-कभी शिव के तत्त्व का निर्देश हुआ है।[1] वायवीय संहिता में शिव तत्त्व के लिए केवल शिव का प्रयोग भी हुआ है।

हमने पहले देखा कि शंकर ने ब्रह्मसूत्र के इस विषय की व्याख्या इन भिन्न शैव अथवा महेश्वर संप्रदाय के मत के खंडन के रूप में की है जो ईश्वर को विश्व का निमित्त कारण मानते हैं। श्रीकंठ ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ही है। अपने समर्थन में वह शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता के मूल ग्रंथों को यह दिखाने के लिए प्रस्तुत करते हैं कि वैदिक प्रमाण के अनुसार ईश्वर विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ही है। परंतु श्रीकंठ कहते हैं कि यद्यपि आगम तथा शैवमत का वैदिक विचार एक ही है क्योंकि दोनों की शिव ने रचना की थी, तथापि कुछ आगमों जैसे, कामिक में निमित्त पक्ष को अधिक प्रमुखता दी है, परंतु उस प्रमुखता का यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि वह इस विचार का खंडन करती है कि ईश्वर विश्व का उपादान-कारण भी है। यह सत्य है कि शैवमत के कुछ पंथों जैसे, कापालिकों अथवा कालमुखों में कुछ कर्मकांड अशुद्ध रूप के हैं तथा उस हद तक वे वेद-विरोधी माने जा सकते हैं फिर भी वाराह-पुराण तथा अन्य पुराणों के प्रमाण से, शैवमत अथवा पाशुपत योग, वैदिक माना गया है। श्रीकंठ तथा अप्पय ने प्राकृत तथा सांस्कृतिक शैवमत के बीच की इस खाई

---

[1] शिव तत्त्व शब्देन तु शिव एवोच्यते। न तु अत्र शिव-तत्त्व-शब्दः परशक्तिपरः शक्ति-शब्दस्तत्कार्य-द्वितीय-तत्त्व-रूप-शक्तिपरः।

—अप्पय दीक्षित की टीका भाग २, पृ० ११०।

को भरने का अथक प्रयत्न किया है जिनमें एक ओर शैवमत के वे रूप हैं जो वेदों के प्रमाण पर आधारित एवं प्रथम तीन वर्णों के लिए थे तथा दूसरी ओर वे जो समस्त वर्णों के लिए हैं। दोनों यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि प्रस्तुत विषय शैवागमों में प्रतिपादित विचारों के विरोध में निर्देशित नहीं था, जैसीकि शंकर ने व्याख्या की है, वरन् उन मतों के विरोध में था, जो शैवदर्शन के किसी भी भाग में नहीं आते हैं।

कुछ कल्पसूत्रों में कुछ मूल ग्रंथों के वैध प्रमाण के विरुद्ध आरोपों की चर्चा है, परंतु ये आरोप शिव द्वारा रचित आगमों पर लागू नहीं होते। यह कहा गया है कि शिव विश्व का उपादान कारण नहीं हो सकते क्योंकि उपनिषद् यह मानते हैं कि ब्रह्मन् अपरिवर्तनशील है तथा इस प्रकार परिणाम-वाद का खंडन करने का प्रयत्न किया है। 'परिणाम' का अर्थ है 'पूर्वावस्था से उत्तरावस्था में परिवर्तन'। पुनः, यह माना गया है कि शक्ति स्वयं में अपरिवर्तनशील है। यदि वह शक्ति 'चेतना' स्वरूप भी हो तब भी ऐसा परिवर्तन अग्राह्य होगा। इस विचार के विरोध में यह माना गया है कि आध्यात्मिक बल अथवा शक्ति (चिच्छक्ति) में सृष्टि अथवा संहार की कामना के अवसर पर परिवर्तन हो सकता है। जो चिच्छक्ति हमारे भीतर है वह बाहर आती है तथा इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आती है एवं यह पदार्थों के हमारे प्रत्यक्षीकरण को स्पष्ट करती है। क्योंकि हमें चिच्छक्ति के कार्यात्मक विस्तार (वृत्ति) के सिद्धांत को स्वीकार करना होगा अतः यह स्वीकार करना सुगम है कि मूल शक्ति का भी कार्यात्मक विस्तार तथा संकुचन है।[1]

श्रीकंठ द्वारा प्रतिपादित शैव-संप्रदाय के अनुसार जीव ईश्वर से उत्पन्न नहीं हुए हैं वरन् उनका उसके साथ सह-अस्तित्व है। आत्माएँ ब्रह्मन् से चिनगारी के समान निकली हैं। यह कहने वाले धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या, इस प्रकार की गई कि आत्माओं का बुद्धि, मन तथा भिन्न शरीरों से केवल बाद में संयोजन होता है। यह भी कहना पड़ेगा कि आत्माएँ इन्द्रियों तथा मन दोनों के जरिए चेतन ज्ञाता हैं। मन की व्याख्या उस ज्ञान के विशेष लक्षण अथवा गुण के रूप में की गई है जो आत्मा को प्राप्त है तथा जिसके कारण वह ज्ञाता है। इस मन का उस निम्न प्रकार के मन से भेद करना होगा जो प्रकृति की उत्पत्ति है तथा जो जन्म व पुनर्जन्म की प्रक्रिया में माया की शक्ति के संयोजन द्वारा आत्माओं से संयोजित हो जाता है। यह शक्ति इसको ज्ञाता के रूप में एक विशेष गुण दे देती है जिससे यह सुख तथा दुःख को भोग अथवा

---

[1] तेष्वपि सिसृक्षा-संजिहीर्षादि-व्यवहारेण शिव-चिच्छक्तेः 'चिच्छक्तिरर्थ-संयोगोऽध्यक्ष-मिन्द्रिय मार्गतः,' इति चिच्छक्ति-वृत्ति-निर्गम-व्यवहारेण-जीव-चिच्छक्तेश्च परिणामित्व-माविष्कृतमेवेति भावः।

—अप्पय दीक्षित की टीका भाग २, पृ० ११२।

सहन कर सकती है एवं जो शरीर व अहंकार तक सीमित है। इसी मन के कारण आत्मा जीव कहलाती है। जब ब्रह्मज्ञान द्वारा अशुद्धियों से इसके तीन प्रकार के संयोजन को हटा दिया जाता है तब यह ब्रह्मन् के समान हो जाती है तथा मोक्षावस्था में इसका आत्मज्ञान अपने को अभिव्यक्त करता है। यह ज्ञान लगभग ब्रह्मज्ञान के समान है। इस अवस्था में आत्मा अपने स्वाभाविक आनंद का अनुभव केवल मन द्वारा, बिना किसी आंतरिक अंगों के संयोजन कर सकती है। आनंद के अनुभव के लिए केवल मन ही एक आंतरिक अंग है तथा किसी बाह्य अंग की आवश्यकता नहीं है। जीव तथा ईश्वर में यह अन्तर है कि ईश्वर सर्वज्ञ है तथा जीव को जन्म व पुनर्जन्म की प्रक्रिया के समय ही विशेष रूप से वस्तुओं का ज्ञान होता है। परंतु मोक्ष की वास्तविक अवस्था में आत्माएँ भी सर्वज्ञ हो जाती हैं।[1] श्रीकंठ यह भी मानते हैं कि समस्त आत्माएँ आकार में अणु हैं तथा शुद्ध-चित् स्वरूप नहीं हैं वरन् उन सबको उनके स्थायी गुण के रूप में ज्ञान प्राप्त है। इन समस्त विषयों पर श्रीकंठ का शंकर से मतभेद है तथा रामानुज से आंशिक रूप में सहमति है। चेतना के रूप में ज्ञान आत्मा का उपलब्ध गुण नहीं है जैसाकि नैयायिकों तथा वैशेषिकों ने माना है, वरन् इसका सदैव आत्माओं के स्वरूप में सह-अस्तित्व है। जैसा कुछ दार्शनिक सिद्धांत मानते हैं, जीव केवल प्रतिभासिक कर्त्ता नहीं वरन् वे भी अपनी क्रियाओं के वास्तविक कर्त्ता माने जाते हैं। इस प्रकार सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि प्रकृति वास्तविक कर्त्ता है तथा उन सुखों व दुःखों की वास्तविक भोक्ता है जो मिथ्या रूप से जीवों पर आरोपित किए जाते हैं। किन्तु श्रीकंठ के अनुसार आत्माएँ अपने कर्मों की वास्तविक कर्त्ता तथा वास्तविक भोक्ता दोनों ही हैं। व्यक्ति के संकल्प द्वारा ही क्रिया का संपादन होता है तथा कर्त्ता के अर्थ में कोई मिथ्यारोपण नहीं है जैसाकि सांख्य तथा अन्य विचारधाराएँ मानती हैं। आत्माएँ अंत में ब्रह्मन् का अंश मानी जाती हैं तथा श्रीकंठ उस अद्वैत विचार के खंडन का प्रयत्न करते हैं जिसमें कारण तथा उपाधि की सीमाओं के द्वारा ईश्वर भ्रमात्मक रूप से जीव प्रतीत होता है।[2]

इस विचार के विषय में कि कर्म अपने फल स्वयं अथवा अपूर्व नामक कुछ प्रभावों की मध्यस्थता द्वारा प्रत्यक्ष उत्पन्न करते हैं, श्रीकंठ का विश्वास है कि अचेतन होने के कारण कर्मों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे विभिन्न जन्मों तथा विभिन्न शरीरों

---

[1] तत्सदृश-गुणत्वादपगत-संसारस्य जीवस्य स्वरूपानन्दानुभवसाधनं मनोरूपमनतः कारणमनपेक्षित-बाह्य कारणमस्ति इति गम्यते। ज्ञाज्ञौ इति जीवस्य अज्ञत्वं किंचिज्ज्ञत्वमेव। असंसारिणः परमेश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वमुच्यते। अतः संसारे किंचिज्ज्ञत्वं मुक्तौ सर्वज्ञत्वमिति ज्ञाता एव आत्मा।

—ब्रह्मसूत्र २-३-१६ पर श्रीकंठ का भाष्य, पृ० १४२-३।

[2] ब्रह्मसूत्र २-३-४२-५२ पर श्रीकंठ का भाष्य।

में होने वाले अनेक प्रकार के कार्यों का उत्पादन कर सकते हैं। अतः यह स्वीकार करना होगा कि क्योंकि कर्मों का संपादन मनुष्य के मूल स्वतंत्र संकल्प के अनुरूप ईश्वरके सकल्प द्वारा अथवा वाद की अवस्थाओं में उसके अपने कर्म द्वारा निश्चित होता है इस कारण समस्त कर्मों के स्वरूपों का भी, उपयुक्त क्रम में ईश्वर के अनुग्रह द्वारा वितरण किया जाता है।[1] इस प्रकार एक ओर हमारे कार्यों के लिए अन्ततः ईश्वर का उत्तरदायित्व सिद्ध होता है, दूसरी ओर हमारे कर्मों के अनुसार हमारे सुख-दुःख भोग के लिए भी। हमारी स्वेच्छा द्वारा किए गए कार्यों तथा हमारे कर्मों के अनन्तर भावी फल के लिए हमारे नैतिक दायित्व पर उससे कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

मोक्ष की अवस्था में मुक्त आत्मा, निर्गुण अवस्था में ब्रह्मन् से एक नहीं हो जाती। वे उपनिषद् जो यह घोषित करते हैं कि ब्रह्मन् निर्गुण है, उनका इस घोषणा से केवल यह अर्थ है कि ब्रह्मन् में कोई भी अनुचित गुण नहीं है तथा उसे वे सभी श्रेष्ठ गुण प्राप्त हैं जो ईश्वर के विषय में हमारी कल्पना के अनुरूप हैं। जब मोक्ष की अवस्था में मुक्त आत्माएँ ब्रह्मन् से एक हो जाती हैं तब इसका केवल यही अर्थ है कि वे ईश्वर के साथ उसके सभी श्रेष्ठ गुणों की भागी होती हैं, परन्तु वे कभी समस्त गुणों से रहित नहीं हो पाती जैसाकि शंकर की अद्वैतवादी व्याख्या अवबोध कराती प्रतीत होती है। यह पहले ही इंगित किया जा चुका है कि ईश्वर में एक ही समय में अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं तथा ऐसा विचार स्व-विरोधी नहीं होगा यदि यह न कहा जाय कि उसमें एक ही समय में अनेक परस्पर विरोधी गुण हैं। इस प्रकार कमल को हम श्वेत, सुगंधित तथा वृहत् कह सकते हैं परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि एक ही समय में वह नीला तथा श्वेत है।[2]

श्रीकंठ यह मानते हैं कि केवल वे कर्म जो फल देने की अवस्था में परिपक्व हो चुके हैं (प्रारब्ध कर्म), निरंतर फल दिए जाएँगे तथा वे ऐसा तबतक करते रहेंगे जबतक कि प्रस्तुत शरीर नष्ट नहीं हो जाता। किसी भी परिमाण में ज्ञान अथवा अनुभूति, हमें हमारे द्वारा उपार्जित कर्मों के सुखों अथवा दुःखों के अनुभव से नहीं बचा सकते, परंतु यदि हम शिव के उस स्वरूप का, जिसमें हम शिव से एक हैं, निरंतर ध्यान करके ज्ञान प्राप्त कर लें तब हमें उन संचित कर्मों के लिए, जो अभी सुख अथवा दुःख के फल देने की अवस्था के लिए परिपक्व नहीं हुए हैं, जन्म तथा पुनर्जन्म नहीं भोगना पड़ेगा।[3]

जब समस्त मल नष्ट हो जाते हैं तथा व्यक्ति मुक्त हो जाता है, तब वह उस मुक्त अवस्था में विश्व सृजन की शक्ति के अतिरिक्त समस्त आनंदपूर्ण अनुभवों तथा सभी

---

[1] ब्रह्मसूत्र ३-२-३७-४० पर श्रीकंठ का भाष्य।
[2] ब्रह्मसूत्र ३-३-४० पर श्रीकंठ का भाष्य।
[3] ब्रह्मसूत्र ४-१-१९ पर श्रीकंठ का भाष्य।

प्रकार की शक्तियों का भोग कर सकता है। वह निःशरीर रहकर भी केवल अपनी बुद्धि के द्वारा समस्त सुखों का अनुभव कर सकता है तथा वह एक ही समय में ऐसे अनेक आध्यात्मिक पदार्थों को सजीव कर सकता है अथवा उनका पुर्नानिर्माण कर सकता है जो प्रकृति के नियमों से परे हैं तथा उनके द्वारा वह किसी भी ऐसे आनंद का अनुभव कर सकता है जिसकी उसे कामना हो। किन्तु किसी भी स्थिति में वह उस अवस्था से, कर्म के नियम के अन्तर्गत जन्म व पुनर्जन्म भोगने के लिए नहीं लाया जाता वरन् अपने में उन भगवान शिव के समान सर्वथा स्वाधीन रहता है जिनके साथ वह सभी प्रकार के सुखकारक अनुभवों में भाग ले सकता है। इस प्रकार वह अपना व्यक्तित्व तथा सुख भोगने की शक्ति रखता है। वह ऐसा केवल अपनी बुद्धि के द्वारा अथवा अपने अमूर्त शरीर तथा इन्द्रियों द्वारा करता है। उसके अनुभव कभी भी साधारण मनुष्यों के अनुभवों के समान नहीं होंगे जो विशेष लक्ष्य-प्राप्ति के लिए अनुभवों का प्रयोग करते हैं। संसार का उसका अनुभव ऐसा अनुभव होगा जिसका स्वरूप ब्रह्मन् के अनुभव के समान होगा।[1]

अध्याय ३७

पुराणों में शैव-दर्शन

शिव महापुराण में शैव-दर्शन

शैव-धर्म तथा दर्शन की प्राचीनता की व्याख्या हम पृथक् खंड में करेंगे। यह दुःख का विषय है कि शैवमत के प्राचीनतम काल से निरंतर विकास के इतिहास की खोज अत्यंत कठिन ही नहीं वरन् लगभग असंभव है। हम इससे अधिक कुछ नहीं कर सकते कि शैवमत के विभिन्न संदर्भों में दिए हुए विभिन्न पक्षों का पृथक् अध्ययन करें तथा तब उनका एक साथ संकलन करदें यद्यपि वह पूर्णतः संतोषजनक संकलन नहीं हो पाएगा। इस स्थिति के अनेक कारण हैं। प्रथम तो शैवमत संस्कृत तथा द्रविड़ भाषाओं में व्यक्त किया गया था। यह भी अभी निश्चित नहीं कि द्रविड़ ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद थे अथवा केवल संस्कृत लेखों से प्रेरित थे। बाद के लेखक यहाँ तक कि पुराण भी यह मानते हैं कि संस्कृत अथवा द्रविड़ सभी शैव धार्मिक पुस्तकों के ग्रंथाकार शिव थे। निश्चय ही उनका आशय प्राचीनतम लेखों अर्थात् आगमों से है।

हमें प्राचीनतम आगमों के निश्चित काल का ज्ञान नहीं है। 'आगम' शब्द की कुछ व्याख्या की आवश्यकता है। इसका अर्थ है 'मूल ग्रंथ जो हम तक आए हैं' तथा जो ईश्वर अथवा किसी पौराणिक श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा निर्मित माने गए हैं। शिव-महापुराण की वायवीय-संहिता में हमारे पास अट्ठाईस शिवाचार्यों की सूची है तथा इनका उल्लेख दसवीं शताब्दी ई० तक किया गया है। परंतु इन शैव शिक्षकों की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए कुछ भी नहीं है, न ही हमें यह ज्ञात है कि कौन से आगम हमें उनमें से किससे प्राप्त हैं। दक्षिण में आर्य सभ्यता के प्रवेश के पूर्व किसी द्रविड़ दार्शनिक सभ्यता के विषय में हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। अतः यह कल्पना करना कठिन है कि संस्कृत रचनाओं के सदृश द्रविड़ रचनाएँ किसी प्रकार हो सकती थीं।

अन्य कठिनाई यह है कि इनमें से पूर्व काल के अनेक आगम अब नहीं मिलते हैं। वर्तमान में उपलब्ध आगमों में से अनेक संस्कृत में विभिन्न द्रविड़ लिपियों में लिखे हैं। ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में उल्लिखित शैवदर्शन के संप्रदायों के अभिलेख अवश्य ही संस्कृत में लिखे गए होंगे परंतु प्रस्तुत लेखक ७वीं व ८वीं शताब्दी में उल्लिखित समस्त संप्रदायों की ठीक-ठीक पहिचान शैवविचार के वर्तमान अभिलेखों में उपलब्ध संप्रदायों से तादात्म्य

बिठाकर करने में पूर्णतः असमर्थ है। रामानुज में वैष्णव-विचार की पुनर्जागृति के साथ-साथ शैवविचार का बृहत् विकास बारहवीं शताब्दी से हुआ था परंतु रामानुज स्वयं शैवमत के उन समस्त संप्रदायों का उल्लेख नहीं करते हैं जिनका शंकर तथा वाचस्पति मिश्र ने अपनी भामती की टीका में उल्लेख किया है। रामानुज, कालमुखों तथा कापालिकाओं का केवल उल्लेख करते हैं, उनके दार्शनिक विचारों के विषय में कोई साहित्य अब प्राप्त नहीं है। संभवतः कापालिक पंथ का अब भी यहाँ-वहाँ अस्तित्त्व है तथा उनकी कुछ प्रथाओं को देखा जा सकता है परंतु कालमुखों की प्रथाओं पर किसी साहित्य की खोज अबतक हम नहीं कर सके हैं। परंतु हम इस समस्या पर तब विचार करेंगे जब हम शैव-विचार की प्राचीनता तथा उसके विभिन्न संप्रदायों का निरूपण करेंगे। वर्तमान समय में साधारण रूप से ज्ञात दक्षिणी शैवमत के तीन संप्रदाय हैं—वीर शैव, शिवज्ञान-सिद्धि-संप्रदाय तथा श्रीकंठ द्वारा वर्णित शैवमत का संप्रदाय। हमने दो खंडों में श्रीकंठ के शैवमत की व्याख्या की है। चौदहवीं शताब्दी में माधव कृत सर्वदर्शन-संग्रह में पाशुपत शैवमत के संप्रदाय का उल्लेख है तथा महा-भारत एवं अनेक पुराणों में पाशुपत-संप्रदाय का उल्लेख है। शिव-महापुराण में, विशेषतः उसके वायवीय-संहिता नामक अंतिम खंड में हमें पाशुपत-दर्शन का वर्णन मिलता है। अतः मैं शिव महापुराण की वायवीय संहिता में प्राप्त पाशुपत-प्रणाली के वर्णन को एकत्रित करने का प्रयत्न करूँगा।

स्वयं पुराण के ही प्रमाणानुसार शिव-महापुराण स्वयं शिव द्वारा लिखी हुई सात भागों में विभाजित एक लाख पद्यों की बृहत् रचना है। कलियुग में व्यास ने इस बृहत् रचना को चौबीस हजार पद्यों में संक्षिप्त किया है। व्यास की ऐतिहासिकता के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। पुराणों में से बहुत से उनके लिखे हुए माने जाते हैं। किन्तु वर्तमान महापुराण में सात खंड हैं जिसका कि वायवीय-संहिता नामक अंतिम खंड दो भागों में विभाजित है तथा लैवमत के भिन्न संप्रदायों के विचारों को स्पष्ट करता माना जाता है। हमारी व्याख्या के अनुसार यह केवल एक संप्रदाय अर्थात् पाशुपत शैवमत के दो विभिन्न रूपों को दर्शाता है। जिन रचनाओं को हम अबतक खोज सके हैं उनमें से कोई भी रचना शिव अथवा महेश्वर की नहीं ठहराई गई है यद्यपि ब्रह्मसूत्र २-२-३७ पर शंकर अपने भाष्य में महेश्वर द्वारा लिखे सिद्धांत ग्रंथों का उल्लेख करते हैं। हमने कुछ आगमों की खोज की है परंतु यह आगम सिद्धांत नहीं कहलाते हैं, न ही वे महेश्वर द्वारा लिखित माने जाते हैं। शिव-महापुराण के प्रमाणानुसार अनेक ऐसे शैव आचार्य हैं जिन्हें तथा जिनके अनेक शिष्यों को शिव का अवतार माना जाता है। परंतु इन पौराणिक आचार्यों के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। शैवमत के सिद्धांतों को समझाते हुए एक उपमन्यु नामक आचार्य का उल्लेख वायवीय-संहिता के खंड में अनेक जगह मिलता है। उपरोक्त शांकर भाष्य में शैवमत का वर्णन बहुत अपूर्ण है परंतु

उससे यह प्रतीत होता है कि शैव, प्रकृति को उपादान-कारण तथा शिव को निमित्त-कारण मानते थे, तथा इस उपरोक्त विचार की "ईश्वर कारणियों" के संप्रदाय के रूप में शंकर विशेषतः आलोचना करते हैं जिसका यह अर्थ निकलता है कि ईश्वर के रूप में एक पृथक् निमित्त-कारण का विचार उपनिषद् सहन नहीं कर सकते थे। वाचस्पति भी इंगित करते हैं कि उपादान कारण होने के कारण प्रकृति का निमित्त-कारण ईश्वर से तादात्म्य नहीं हो सकता। शैवमत में शंकर तथा शैवों के मध्य विवाद-विषय के समाधान की समस्या हमारे सम्मुख आती है। श्रीकंठ के भाष्य की हमारी परिभाषा वह दिशा दर्शाती है जिसमें शैव, समस्या का समाधान करना चाहते हैं परंतु श्रीकंठ का भाष्य संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है तथा शैवमत की अनेक अन्य रचनाएँ केवल बारहवीं शताब्दी तक ही खोजी जा सकती हैं। शिव-महापुराण के प्रमाण पर जो अवश्य ही शंकर से पूर्व लिखा गया होगा, हमें ज्ञात है कि शैव आचार्यों द्वारा शैव रचनाएँ उन दोनों के लिए लिखी गई थीं जो वर्णाश्रम धर्म के अनुयायी थे तथा वे जो वर्णाश्रम धर्म की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे और जिन्हें वेदों के अध्ययन का विशेषाधिकार नहीं था। अतः दूसरे प्रकार के व्यक्तियों के लिए लिखी गई रचनाएँ अवश्य ही दक्षिण की द्रविड़ रचनाएँ होंगी, जिनमें से अनेक अब खो गई हैं तथा जिसकी कुछ परंपराएँ अब संस्कृत आगमों में मिलती हैं। दूसरे खंड में हमने पहले ही इनकी व्याख्या कर ली है। हमें यह दर्शाने का अवसर मिलेगा कि शैवमत का काश्मीरी रूप शंकर के लगभग समकालीन था।

शिव-महापुराण के रुद्र संहिता नामक दूसरे खंड में हमें यह बताया गया है कि महाप्रलय के समय, जब समस्त पदार्थ नष्ट हो गए थे, तब न सूर्य, न ग्रह, न तारे, न चन्द्रमा, न दिन, न रात्रि थे, अपितु केवल अंधकार था, समस्त शक्तिरहित केवल शून्यता थी। किसी भी प्रकार की कोई संवेदनशीलता नहीं थी, यह वह अवस्था थी जिसमें न सत्ता थी, न असत्ता थी, यह बुद्धि एवं वाणी तथा नाम व रूप से परे थी। परंतु फिर भी उस तटस्थ अवस्था में केवल शुद्ध सत्ता, शुद्ध चित्, अनंत तथा पर आनंद था जो अथाह तथा स्वयं अपने प्रकार की एक अवस्था में स्थित था, यह निराकार तथा सर्वगुण-रहित था।[1] यह पूर्णतः शुद्ध चित् के स्वरूप का, अनादि, अनंत तथा विकास रहित था। शनैः शनैः द्वितीय कामना अथवा संकल्प उदित हुआ जिससे निराकार अपनी स्वयं की लीलामय क्रियाओं द्वारा किसी आकार में परिवर्तित हो गया। यह उस सर्वस्रष्टा शुद्ध शक्ति के रूप में माना जा सकता है जिसके सदृश कुछ नहीं है। इस शक्ति

---

[1] सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं महः
अप्रमेयमनाधारमविकारमनाकृति।
निर्गुणं योगिगम्यं च सर्वव्याप्येककारकम्।
—शिव-महापुराण २-१-६,२ डी० सी० १८।

द्वारा निर्मित आकार सदाशिव कहलाता है। मनुष्य इसको ईश्वर भी कहते हैं। एकाकी शक्ति ने, स्वतः गतिशील होकर स्वयं से अपना नित्य शरीर बनाया जो प्रधान, प्रकृति अथवा माया कहलाता है तथा जो बुद्धि के तत्त्व को उत्पन्न करता है। यह माया अथवा प्रकृति सब प्राणियों की निर्मात्री है तथा यह ईश्वर से भिन्न परम पुरुष शिव, जो शंभु भी कहलाते हैं—के सम्पर्क में आने वाली मानी जाती है। यह शक्ति काल भी मानी जाती है।

प्रकृति से महत् अथवा बुद्धि विकसित हुई तथा बुद्धि से तीन गुण सत्व, रजस् व तमस् तथा इनसे तीन प्रकार के अहंकार विकसित हुए। अहंकार से तन्मात्रा, पंचभूत, पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा मनस् विकसित हुए।

शिव-महापुराण की कैलाश-संहिता में शैवमत का विचार शिवाद्वैत-प्रणाली अथवा शैवमत के अद्वैत सिद्धांत के रूप में वर्णित है।[1] यहाँ यह कहा गया है कि क्योंकि समस्त जीवित प्राणी एक नर भाग अथवा एक मादा भाग से निर्मित हैं अतः मूल कारण का भी संयुक्त नर-मादा सिद्धांत से प्रतिनिधित्व होना चाहिए। वास्तव में इसी विचार के आधार पर सांख्य ने मूल कारण को प्रकृति एवं पुरुष के रूप में माना था। परंतु उन्होंने केवल तार्किक आधारों पर इसकी स्थापना का प्रयत्न किया था, आस्तिक दृष्टि से वे इसकी स्थापना करने के इच्छुक नहीं थे। इसी कारण यद्यपि कुछ सांख्य तत्त्व स्वीकार किए गए तथापि पूर्णतया बुद्धिवादी प्रणाली होने के कारण सम्पूर्ण सांख्य का परित्याग किया गया। वेदों में ब्रह्मन् सत्-चित्-आनंद का समन्वित रूप माना जाता है तथा नपुंसक लिंग में है। ब्रह्मन् में 'सत्' की स्थिति का अर्थ है कि वहाँ सत्ता का पूर्ण निषेध नहीं है। इस सत् को नपुंसक स्वरूप में मानना यह तथ्य प्रदर्शित करता है कि यह पुरुष है तथा यह पुरुष प्रकाश स्वरूप भी है। सत्-चित्-आनंद के ऐक्य में शुद्ध चित् मादा भाग का प्रतिनिधित्व करती है। अतः दो भाग जो नर व मादा माने जाते है, प्रकाश तथा शुद्ध चित् हैं तथा ये दोनों मिलकर संसार के उत्पादक कारण बनते हैं। अतः सत्चित् व आनन्द के ऐक्य में शिव तथा शक्ति का ऐक्य निहित है। कभी-कभी इस प्रकाश के भी प्रतिबंधक या आवरण आ जाते हैं; उसी तरह जिस प्रकार वर्त्तिका की ज्वाला पर धूम्र तथा अन्य अशुद्धियों का आवरण या प्रतिबंध आ जाता है। मल शिव में नहीं हैं परंतु शुद्ध चित् की अग्नि में दिखते हैं। इसी कारण चिच्छक्ति अथवा शुद्ध चित् की शक्ति मानव आत्माओं में अशुद्ध अवस्था में दिखती है। इस मल के निष्कासन के लिए ही शक्ति की सर्वकालीन व्यापकता की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार शक्ति बल का प्रतीक है। परमात्मन् में शिवपक्ष तथा शक्तिपक्ष दोनों हैं।

---

[1] उत्पाद्याज्ञान सम्भूतं संशयाख्यं विष-द्रुमम्,
शिवाद्वैत महा-कल्प-वृक्ष-भूमिर्यथा भवेत्।   —तत्रैव, ६-१६-२।

शिव तथा शक्ति के संमिलन के कारण ही आनंद होता है। आत्मन शुद्ध चित् है तथा यह चित् अपने में सर्वज्ञान तथा सर्वशक्ति धारण करती है, यह स्वतंत्र एवं स्वाधीन है तथा यह उसकी प्रकृति है। शिव-सूत्र में ज्ञान का वर्णन बंधन के रूप में हुआ है परंतु वहाँ 'ज्ञान' शब्द से तात्पर्य केवल अनित्य सीमित तथा अशुद्ध ज्ञान से है जो समस्त मनुष्यों में है तथा केवल इसी अर्थ में ज्ञान को बंधन माना जा सकता है।

शक्ति स्पंद भी कहलाती है। ज्ञान, गति तथा संकल्प शिव के तीन पक्षों के समान हैं तथा मनुष्यों को इन्हीं से प्रेरणा मिलती है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है संयुक्त शिव तथा शक्ति पराशक्ति प्रदान करते हैं तथा इस पराशक्ति से चेतना की शक्ति अथवा चिच्छक्ति विकसित होती है। इससे शक्ति अथवा आनंद अथवा आनंद शक्ति का विकास होता है तथा इससे इच्छाशक्ति तथा उससे ज्ञान शक्ति एवं क्रियाशक्ति विकसित होते हैं। शिव के पक्ष में स्पंद का प्रथम तत्त्व शिव-तत्त्व कहलाता है। संसार तथा जीव का पूर्ण रूप से शिव के साथ तादात्म्य है तथा इसका ज्ञान प्राप्त करना मोक्ष की ओर प्रवृत्त करता है।

परम प्रभु अपने को संकुचित कर लेते हैं तथा अपने आपको उन जीवों में अभिव्यक्त करते हैं जो प्रकृति के गुणों के भोक्ता हैं। पाँच प्रकार की कलाओं की प्रक्रिया द्वारा यह भोग होता है। एक कला व्यक्ति को क्रिया करने की ओर प्रवृत्त करती है, दूसरी उसे द्विविध विद्या के वस्तुसत्य का ज्ञान कराती है, तीसरी उसे रोगों से अनुरक्त करती है, काल वस्तुओं को क्रम से घटित करवाता है, नियति (जो प्रारब्ध के लिए नहीं वरन् अन्तःकरण के लिए एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुई है) वह तत्त्व है जो यह उसे निश्चित करने की प्रेरणा देता है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए।[1]

पुरुप अथवा जीव को संचित रूप में ज्ञान के गुणसंकल्प आदि प्राप्त हैं। तथाकथित चित्त, अथवा मानसिक स्तर का निर्माण प्रकृति में स्थित विभिन्न गुणों द्वारा हुआ हैं। बुद्धि से विभिन्न इन्द्रियों तथा सूक्ष्म पदार्थ का विकास होता है।

उपर्युक्त विचारधारा अर्थात् शिवाद्वैत-प्रणाली बहुत अव्यवस्थित रीति से निबद्ध है। इसे संक्षेप में इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर प्राप्त विवेचन से व्यक्त किया जा सकता है। एक तो ब्रह्म को यह मत उस काल की एक निर्गुण सत्ता या असत्ता के रूप में मानता है जबकि विश्व में सून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता इस सत्ता-असत्तात्मक ब्रह्मन् से एक ऐसा तत्त्व उत्पन्न होता है जो स्वयं में नरमादा की उस शक्ति

---

[1] इदं तु मम कर्तव्यमिदं नेति नियामिका, नियतिस्स्यात्।

—शिव-महापुराण, ६-१६-८३।

के दो तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है जो समस्त जीवित प्राणियों में व्यापक है। इस तत्त्व अर्थात् शिव से, एक ओर, जीव उद्भूत होते हैं जो परमेश्वर के स्वरूप की एक संकुचित अभिव्यक्ति है तथा दूसरी ओर सांख्य के सिद्धांत की तरह ही मादाशक्ति-पक्ष "प्रकृति" से उद्भूत समान संसार है। पुरुष में पाँच प्रकार के तत्त्व माने जाते हैं जिनके द्वारा वह अपने तथा संसार के समागम के सुख तथा दुःख का भोग कर सकता है। संकुचित रूप में आ जाने के कारण, जीव अशुद्ध रूप में दिखलाई देते हैं जिस प्रकार वर्तिका की शिखा में धूम्र आदि अशुद्धियाँ या प्रतिबंध दिखलाई देते हैं। इस प्रकार पूर्णरूप से प्रत्ययवादी न होते हुए भी संपूर्ण प्रणाली एक प्रकार के एकतत्त्ववाद की ओर प्रवृत्त है। श्रीकंठ के दर्शन से इसकी समीपता अथवा सादृश्य तुरन्त स्पष्ट हो जायेंगे यद्यपि व्यक्त करने की पद्धति में अंतर है। कुछ गद्यांश ऐसे हैं जो हमें काश्मीर शैवमत के कुछ उन रूपों का स्मरण दिलाते हैं जो यद्यपि एकतत्त्ववादी थे तथापि यहाँ व्यक्त किए हुए एक तत्त्व-वाद से विशेषकर भिन्न थे। हमें यहाँ काश्मीर शैवमत के स्पंद सिद्धांत का भी उल्लेख मिलता है। परंतु इसके बावजूद हमें यह नहीं समझना चाहिए कि एक तत्त्ववादी शैवमत प्रथम बार इस पुराण अथवा इस अध्याय में प्रतिपादित किया गया था। हम अन्यत्र यह प्रतिपादित करेंगे कि ईसा की पहली शताब्दी के आसपास स्पष्टतः एक तत्त्ववादी शैवमत का अस्तित्व था। बहरहाल काश्मीर शैवमत संभवतः सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक आते-आते विकसित हुआ। अतः यह माना जा सकता है कि शिश-पुराण का उल्लिखित अध्याय नवीं अथवा दसवीं सताब्दी के समीप किसी समय लिखा गया होगा जो श्रीकंठ का काल भी माना जा सकता है। यद्यपि यह भी हो सकता है कि वह रामानुज के बाद ग्यारहवीं शताब्दी में किसी समय हुए हों। यथा-स्थान हम इन विषयों पर अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

शिव-महापुराण की रुद्र-संहिता के द्वितीय अध्याय[1] में शिव का यह कथन आता है कि परम तत्त्व, जिसका ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराता है, शुद्ध चेतना है तथा उस चेतना में आत्मन् तथा ब्रह्मन् के मध्य कोई भेद नहीं है।[2] परंतु आश्चर्य है कि शिवभक्ति तथा ज्ञान का तादात्म्य करते प्रतीत होते है। भक्ति के बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।[3] जहाँ भक्ति है वहाँ ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने में जातिभेद बाधक नहीं

---

[1] शिव-महापुराण, २-२-२३।

[2] परतत्त्वं विजानीहि विज्ञानं परमेश्वरि
द्वितीयं स्मरणं यत्र नाहं ब्रह्मेति शुद्धधीः।

—शिव-महापुराण २-२-२३-१३।

भक्तौ ज्ञाने न भेदो हि
विज्ञानं न भवत्येव सति भक्ति-विरोधिनः।

है। वहाँ शिव भक्ति के विभिन्न भेदों का वर्णन भी करते हैं। इस अध्याय में वर्णित भक्ति का स्वरूप यह दर्शाता है कि भक्ति भावात्मक उद्गार नहीं मानी जाती थी; जैसाकि हमें भक्ति मार्ग के चैतन्य संप्रदाय में मिलता है। शिव के नाम का श्रवण, भजन, उनका ध्यान उनकी पूजा एवं अपने को उसका सेवक समझना तथा मित्रता की भावना का विकास करना जिसके द्वारा मनुष्य अपने को भगवान शिव को समर्पण कर सके यह शैवमत में भक्ति का स्वरूप माना गया है। शिव के नाम का भजन पुराणों में दी हुई शिव की कथा के संदर्भ में किया जाता है। शिव पर चिन्तन इस विचार के आलोक में किया जाता है कि शिव सर्वव्याप्त तथा सर्वव्यापी है। भक्ति के द्वारा ही सत्य ज्ञान हो सकता है तथा सांसारिक पदार्थों से निवृत्ति हो सकती है।

४-४१ में चार प्रकार के मोक्ष-सारूप्य, सालोक्य, सांनिध्य तथा सायुज्य वर्णित हैं। हमने पहले ही चतुर्थ भाग में मोक्ष के उन स्वरूपों का निरूपण कर लिया है जो वैष्णवों के मध्व-संप्रदाय के अनुयायियों ने स्वीकार किए हैं, तथा यह मोक्ष केवल शिव द्वारा ही प्रदान किया जाता है जो प्रकृति के गुणों से परे है।

यहाँ (४-४१) शिव के स्वरूप का वर्णन प्रकृति से परे तथा निर्विकारीण के रूप में किया गया है। वह शुद्ध ज्ञान स्वरूप, अपरिवर्तनशील तथा सर्वदर्शी के स्वरूप का है। कैवल्य नामक पाँचवें प्रकार का मोक्ष केवल शिव के तथा उसकी महिमा के ज्ञान द्वारा प्राप्त हो सकता है। संपूर्ण संसार उससे उत्पन्न होता है तथा उसी में वापस चला जाता है और वह उसमें सदैव व्याप्त है। वह सत्-चित् और आनंद के ऐक्य के रूप में भी वर्णित है। वह निर्गुण, निरूपाधिक शुद्ध है तथा किसी प्रकार अशुद्ध नहीं किया जा सकता। शब्द उसका वर्णन नहीं कर सकते तथा विचार उस तक नहीं पहुँच सकते। यह ब्रह्मन् ही है जो शिव भी कहलाता है। जिस प्रकार आकाश समस्त पदार्थों में व्यापक है उसी प्रकार वह समस्त पदार्थों में व्यापक है। वह माया के क्षेत्र से परे है तथा द्वन्द्वातीत है। ज्ञान अथवा भक्ति द्वारा उसे प्राप्त किया जा सकता है परंतु ज्ञान-मार्ग की तुलना में भक्ति-मार्ग का अनुसरण सुगम है। अगले अध्याय (४-४२) में यह कहा गया है कि पुरुष से संयोजित प्रकृति अनंत ब्रह्मन् शिव से उत्पन्न होती है।[1] पुरुष से संयोजित प्रकृति का यह विकास उस रुद्र का तत्त्व कहलाता है जो परम ब्रह्मन् शिव का ही केवल रूपांतर है, जिस प्रकार स्वर्ण के आभूषण स्वर्ण का रूपांतर माने जा सकते हैं। केवल चिन्तन के लाभ के लिए ही निराकार शिव को साकार माना गया है।

विश्व में श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ में जो हम देखते या जानते हैं, वह शिव का रूप ही

---

[1] तस्मात्प्रकृतिरुत्पन्ना पुरुषेणाऽसमन्विता।

—तत्रैव ४-४२-३।

है, तथा पदार्थों के नानागुण युक्त धर्म उससे निर्मित होते हैं। सृष्टि के पूर्व तथा प्रलय के समय, शिव की ही एक अपरिवर्तनशील सत्ता रहती है। शुद्ध शिव केवल तब सगुण माने जाते हैं, जब कोई उन्हें उस शक्ति का अधिकारी मानता है जिससे कि उनका वास्तव में तादात्म्य है। ईश्वर के संकल्प द्वारा ही संसार में सब व्यापार चल सकते हैं। उसे सबका ज्ञान है, परंतु उसका ज्ञान किसी को नहीं है। संसार की सृष्टि करके वह उससे परे रहता है तथा इससे अंतर्ग्रस्त नहीं होता। परंतु शुद्ध चित् के अपने रूप में वह संसार में संसारियों को दिखालाई देता है, जिस प्रकार सूर्य अपने प्रतिबिम्बों में दिखता है। वास्तव में शिव इस परिवर्तनशील संसार में प्रवेल नहीं करता। वास्तव में शिव ही पूर्ण संसार है यद्यपि संसार के दृश्य विपरिवृत्त होते हुए अलग-अलग देशकाल में घटित होते हुए प्रतीत होते हैं। अज्ञान का अर्थ केवल भ्रमात्मक ज्ञान है, तथा यह कोई पदार्थ नहीं है जो ब्रह्मन् के साथ द्वैत सत्ता के रूप का माना जा सके।[1]

वेदांतियों के अनुसार सत्ता एक है तथा वह जीव जो ब्रह्मन् का केवल एक अंश है, अविद्या द्वारा भ्रमित हो जाता है तथा अपने को ब्रह्मन् से भिन्न समझता है। परंतु जब अविद्या के चंगुल से मुक्त हो जाता है तब यह शिव से एकाकार हो जाता है। जैसा हमने पहले कहा है, शिव वास्तव में वस्तुओं में न होते हुए भी समस्त वस्तुओं में व्यापक है। वेदांत द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुकरण करने से मोक्ष प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार अग्नि, जो लकड़ी में रहती है लकड़ी को निरंतर रगड़ने से उत्पन्न हो सकती है, उसी प्रकार भक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा शिव को प्राप्त किया जा सकता है परंतु मनुष्य को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जो कुछ है वह शिव है तथा केवल भ्रम द्वारा ही विभिन्न नाम व रूप हमारे सन्मुख आते हैं।[2] जिस प्रकार सागर, अथवा स्वर्ण का टुकड़ा या मिट्टी का टुकड़ा विभिन्न आकारों में दिख सकते हैं, यद्यपि वास्तव में रहते वही है उसी प्रकार केवल विभिन्न उपाधियों के कारण ही, जिनसे हम वस्तुओं की ओर देखते हैं, वे इतनी विभिन्न प्रकट होती हैं, यद्यपि वे शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वास्तव में कारण तथा कार्य में कोई भेद नहीं है।[3] यद्यपि भ्रम द्वारा मनुष्य किसी वस्तु को कारण तथा किसी अन्य वस्तु को

---

[1] अज्ञानं च मतेर्भेदो नास्त्यन्यच्च द्वयं पुनः।
९ दर्शनेषु च सर्वेषु मतिभेदः प्रदर्श्यते।

—शिव-महापुराण ४-५३, ८ सी० डी०।

[2] भ्रान्त्या नाना-स्वरूपो हि भासते शंकरस्सदा।

—तत्रैव ४-४३, १५ सी०, डी०।

[3] कार्य-कारणयोर्भेदो वस्तुतो न प्रवर्तते,
केवलं भ्रान्ति-बुद्ध्यैव तदभावे स नश्यति। —तत्रैव ४-४३-१७।

कार्य समझता है। बीज से भिन्न रूप में प्रतीत होता हुआ अंकुर बीज से निकलता है, परंतु अंत में अंकुर वृक्ष के रूप में विकसित होता हुआ फलता है, पुनः वह अपने को फल तथा बीज में परिवर्तित कर लेता है। बीज बच जाता है और वह अन्य अंकुर उत्पन्न करता है तथा मूल वृक्ष नष्ट हो जाता है। तत्त्वदर्शी बीज के समान है जिसमें से अनेक रूपांतर होते हैं तथा जब ये समाप्त हो जाते हैं तब पुनः तत्त्वदर्शी ही बच रहता है। अविद्या के हट जाने से मनुष्य अहम् से विलग होकर शुद्ध हो जाता है तथा तब वह भगवान शिव के अनुग्रह द्वारा वह बन जाता है जो वह वास्तव में है, अर्थात् शिव। जिस प्रकार दर्पण में मनुष्य अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देख सकता है उसी प्रकार मनुष्य अपनी शुद्ध बुद्धि अर्थात् शिव में, जो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है, अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव-महापुराण ४-४३ में वर्णित शैवमत के इस संप्रदाय में शैवमत एकेश्वरवादी है जो बहुत कुछ शंकर के अद्वैतवाद के समान है। यह विश्वास करता है कि आभास की अनेकता असत्य है तथा ब्रह्मन् अथवा शिव ही केवल एक सत्ता है। यह इस पर भी विश्वास करता है कि यह भ्रमात्मक आभास अविद्या की बाधा के कारण है। यह कार्य तथा कारण में कोई भेद स्वीकार नहीं करता परंतु फिर भी यह इस एकेश्वरवादी विश्वास पर दृढ़ प्रतीत होता है कि भगवान अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान कर सकते हैं, यद्यपि यह इसका निषेध नहीं करता कि उपनिषदों द्वारा निर्देशित मार्ग से ब्रह्म की प्राप्ति की जा सकती है। यह कहता है कि भक्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है, भक्ति से प्रेम तथा प्रेम से मनुष्य को शिव की महिमा के उपाख्यान सुनने का अभ्यास हो जाता है और उससे मनुष्य संत पुरुषों के संपर्क में आता है एवं उससे मनुष्य अपना गुरु प्राप्त कर सकता है। जब इस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है। गुरु की पूजा की रीति भी यहाँ उपस्थित की गई है। यह कहा गया है कि यदि किसी को उत्तम तथा संत गुरु मिल जाता है तब उसे गुरु की इस प्रकार पूजा करनी चाहिए मानो वह स्वयं शिव हो तथा इस प्रकार शरीर की अशुद्धियाँ हट जाएँगी तथा इस प्रकार भक्तों के लिए ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो जाएगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अध्याय में यद्यपि शैवमत की व्याख्या पूर्णतया वेदांती रीति से की गई है तथापि आस्तिकवाद तथा गुरु-पूजा के सिद्धांत को भी इसमें किसी प्रकार प्रवेश मिल गया है, यद्यपि ऐसे सिद्धांत शंकर के औपनिषद अद्वैतवाद के अनुकूल नहीं हैं। अतः यह प्रणाली शैवमत का एक ऐसा रूप उपस्थित करती है जो शिव-महापुराण के दूसरे खंड में दिए हुए रूप से भिन्न है तथा श्रीकंठ व अप्पय दीक्षित द्वारा विवेचित शैवमत के दर्शन से भी भिन्न है।

प्राप्त होता है तथा उसके कारण सांसारिक कार्य करते रहने पर भी मनुष्य अपने कर्मों के फलों की समस्त कामनाओं का त्याग कर सकता है।

कर्मफलों की निवृत्ति से मनुष्य शिव के प्रति विश्वास से संयोजित हो जाता है। यह गुरु के माध्यम से अथवा बिना गुरु के भी हो सकता है। पूर्वोक्त उत्तरोक्त की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। शिव के ज्ञान से मनुष्य जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्र के दुःखों का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। इसके फलस्वरूप समस्त इंद्रिय विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है। इससे महाप्रभु के प्रति भाव उत्पन्न होता है तथा इस भाव द्वारा चिंतन की प्रवृत्ति होती है, तथा तब मनुष्य स्वाभाविक रूप से कर्मों का परित्याग करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार, जब मनुष्य शिव के स्वरूप पर एकाग्रचित्त होता है, तथा चिंतन करता है, तब वह योग की अवस्था प्राप्त कर लेता है। पुनः इस योग के द्वारा ही भक्ति की अधिक वृद्धि होती है तथा उसके द्वारा ईश्वर के अनुग्रह का अधिक विस्तार होता है। इस दीर्घ प्रक्रिया के अंत में जीव मुक्त हो जाता है तथा तब वह शिव के समान (शिव सम) हो जाता है, परंतु वह कभी शिव नहीं हो सकता। संबंधित पुरुष की योग्यता के अनुरूप मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया भिन्न हो सकती है।

७.१.५ में वायु का यह कथन बतलाया जाता है कि पशु अर्थात् जीव, पाश अर्थात् बंधन तथा पति अर्थात् परमेश्वर इन सबका ज्ञान, समस्त ज्ञान तथा विश्वास का अंतिम लक्ष्य है, तथा केवल यही परम सुख की ओर प्रेरित कर सकता है। समस्त दुःख अज्ञान से प्रवृत्त होते हैं तथा उन्हें ज्ञान द्वारा हटाया जाता है। ज्ञान का अर्थ विषयता द्वारा मर्यादित होना है। ज्ञान द्वारा यह विषयीकरण जड़ तथा अजड़ के संदर्भ में हो सकती है। परमेश्वर दोनों का नियंत्रण करता है। जीव अविनाशी है अतः अक्षर कहलाता है, बंधन (पाश) नश्वर है अतः क्षर कहलाता है, तथा जो इन दोनों से परे है वह महाप्रभु है।

विषय की आगे व्याख्या करते हुए वायु कहते हैं कि प्रकृति क्षर के रूप में मानी जा सकती है एवं पुरुष, अक्षर के रूप में महाप्रभु दोनों को क्रिया के लिए गतिमान करता है। पुनः, प्रकृति का माया से तादात्म्य है तथा पुरुष माया से घिरा हुआ माना जाता है। ईश्वर की निमित्तता से मनुष्य के पूर्व कर्मों द्वारा माया तथा पुरुष में सम्पर्क होता है। माया का वर्णन ईश्वर की शक्ति के रूप में किया गया है। मल वह शक्ति है, जिससे आत्माओं की चेतना के स्वरूप का आवरण होता है। इस मल से रहित होने पर पुरुष अपनी मूल स्वाभाविक शुद्धता में वापस चला जाता है। जैसा हमने पहले कहा है माया के आवरण का आत्मा से संयोजन पूर्व कर्मों के कारण है, तथा यह हमें हमारे कर्मफलों को भोगने का अवसर देता है। इस संबंध में ज्ञान का अर्थ रखते हुए कला के तत्त्व, राग, काल तथा नियति की ओर भी ध्यान देना चाहिए। जीव अपने बंधन की अवस्था द्वारा इन सबका अनुभव करता है। वह अपने शुभ तथा अशुभ

कर्मों के सुख तथा दुःख का अनुभव भी करता है। मल से संबंध अनादि है, परंतु मोक्ष-प्राप्ति से इसे नष्ट किया जा सकता है। हमारे समस्त अनुभवों का उद्देश्य हमारी बाह्य तथा आंतरिक इन्द्रियों के द्वारा तथा हमारे शरीर द्वारा अपने कर्मफलों का अनुभव करना है।

यहाँ विद्या की परिभाषा उससे की गई है जो दिक् तथा क्रिया को अभिव्यक्त करे। (दिक्-क्रिया-व्यंजका विद्या)। काल वह है जो सीमित करता तथा अनुभव करता है, (कालोऽवच्छेदकः) एवं नियति वह है जो पदार्थों का क्रम निश्चित करती है तथा राग मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करता है। अव्यक्त वह कारण है जिसमें तीन गुण निहित हैं, इससे सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा इसी में सब वापस चले जाते हैं। यह प्रकृति जो प्रधान अथवा अव्यक्त भी कहलाती है, अपने को सुख-दुःख तथा स्तब्धता के रूप में अभिव्यक्त करती है। प्रकृति की अभिव्यक्ति की विधि कला कहलाती है। तीन गुण सत्व, रजस्, तमस् प्रकृति में से उत्पन्न होते हैं। शास्त्रीय सांख्य सिद्धांत से भिन्न यह स्पष्ट रूप से एक नवीन विचार है। शास्त्रीय सांख्य सिद्धांत में प्रकृति केवल तीन गुणों की साम्यावस्था है तथा वहाँ प्रकृति के तीन गुणों की समता से निर्मित होने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सूक्ष्म अवस्था में यह गुण प्रकृति में व्याप्त रहते हैं जिस प्रकार तिलों में तेल व्याप्त रहता है। अव्यक्त अथवा प्रधान के रूपांतर में से ही पाँच तन्मात्रा, पाँच स्थूल पदार्थ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मनस् अस्तित्त्व में आते हैं। यह कारण अवस्था ही है जो अव्यक्त कहलाती है। रूपांतरों के रूप में कार्य व्यक्त कहलाते हैं जिस प्रकार मिट्टी का लोंदा अव्यक्त माना जा सकता है तथा उससे निर्मित मिट्टी के वर्तन व्यक्त माने जाते हैं। संसार के विविध व्यक्त कार्य अव्यक्त प्रकृति में एकता प्राप्त करते हैं तथा समस्त शरीर, इन्द्रियों आदि का भोग पुरुष ही करता है ऐसी मान्यता है।

विषय की आगे व्याख्या करते हुए वायु कहते हैं कि, यद्यपि एक सार्वलौकिक आत्मा को स्वीकार करने के लिए किसी उचित कारण की खोज करना कठिन है, तथापि एक ऐसी सार्वलौकिक सत्ता को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ता है, जो बुद्धि, इंद्रियों तथा शरीर से भिन्न है। यह सत्ता समस्त मानव अनुभवों की, शरीर के नष्ट होने पर भी, स्थाई भोक्ता है (अयावाद-देह वेदनात्)। यह सार्वलौकिक सत्ता ही है जो समस्त अनुभव योग्य पदार्थों का अनुभव करती है तथा वेदों व उपनिषदों में इसे अंतर्यामी नियंता कहा गया है। यह सब पदार्थों में व्याप्त है फिर भी अपने आयं को विशेष परिस्थितियों में अभिव्यक्त करती है, तथा यह स्वयं अदृश्य है। यह नेत्र अथवा किसी अन्य इंद्रियों द्वारा देखी नहीं जा सकती। बुद्धि के उचित विवेक द्वारा ही इस महान् आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। यह समस्त परिवर्तनों में अपरिवर्तनशील है तथा यह सब पदार्थों की द्रष्टा है एवं स्वयं इसका प्रत्यक्ष नहीं किया

जा सकता। ऐसी महान् आत्मा शरीर तथा इंद्रियों से भिन्न है एवं वे जो इसका शरीर से तादात्म्य मानते हैं, इसको देख नहीं सकते। शरीर से संबंधित होने के कारण, यह समस्त अशुद्धियों और दुःखों से समन्वित हो जाती है, तथा अपने स्वयं के कर्मों द्वारा ही जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्रों में भी फँस जाती है। जिस प्रकार एक जल से परिपूर्ण खेत नवीन अंकुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अज्ञान के खेत में कर्म प्रस्फुटित होने आरंभ हो जाते है, तथा उनसे शरीर उत्पन्न होते हैं जो समस्त दुःखों के उद्गम हैं। जन्म व पुनर्जन्म के कालचक्र द्वारा मनुष्य को अपने कर्मफलों का अनुभव करना पड़ता है, तथा इस प्रकार प्रक्रिया चलती रहती है। यह सार्वलौकिक सत्ता अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होती है तथा भिन्न व्यक्ति में विभिन्न वृत्तियों के रूप में अभिव्यक्त होती है।[1] हमारे समस्त मानव संबंध लकड़ी के उन बहते हुए टुकड़ों के समान, आकस्मिक तथा प्रासंगिक हैं जो लहरों द्वारा पास आकर फिर पृथक् हो जाते हैं। पौधों से लेकर ब्रह्म तक समस्त जीव इस पुरुष के पशु अथवा अभिव्यक्तियाँ हैं। पुरुष सुख तथा दुःख के बंधन से बंधा है तथा परमेश्वर के खिलौने के समान, यह अज्ञानी तथा अशक्त है और अपने सुख की व्यवस्था अथवा दुःख के निवारण का प्रबंध नहीं कर सकता।

हमने पहले ही पशु तथा पाश का स्वरूप देख लिया है। पाश शिव की वह शक्ति है जो अपने को प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त करती है, यह भौतिक संसार आत्मगत संसार के साथ उन सुखों व दुःखों का विकास करती है, जो भिन्न उपाधियों तथा परिस्थितियों में अनेक प्रतीत होते हुए सार्वलौकिक आत्मा पशु को बंधन में बाँधती है। हम यह ध्यान दिए बिना नहीं रह सकते कि यहाँ पुरुष अथवा आत्मन् सांख्य के अनेक पुरुषों अथवा न्याय की अनेक आत्माओं या शैवमत की अन्य प्रणालियों के समान अनेक नहीं है। वेदांती अद्वैतवाद का उत्कृष्ट विचार यहाँ उपस्थित किया गया है तथा इस सिद्धान्त में पुरुष का एक ऐसा स्वरूप वर्णित है जो भिन्न परिस्थितियों में भिन्न शरीरों में अनेक प्रतीत होता है। यह एक पुरुष सर्वव्यापी है, तथा अनेक उपाधियों द्वारा प्रतिबिम्बित होने के कारण ब्रह्म से लेकर घास की पत्ती तक, यह पदार्थों के अनेक विभिन्न आकारों में प्रतीत होता है।

परंतु वह परम ईश ही पशु और पाश दोनों का सृजक है जिसमें असंख्य उत्तम और आकर्षक गुण है। उसके बिना विश्व की कोई सृष्टि सम्भव नहीं हो सकती थी, क्योंकि पशु और पाश दोनों ही जड़ और ज्ञानहीन हैं हमें यह याद रखना चाहिए कि

---

[1] चादितश्च वियुक्तश्च शरीरैरेषु लक्ष्यते,
चन्द्र-बिम्बवदाकाशे तरलैरभ्र संचयैः
अनेक-देह-भेदेन भिन्ना वृत्तिरिहात्मनः।

—शिव-महापुराण, ७-१-५-५६।

सांख्य के अनुसार पुरुष शुद्ध चैतन्य से भिन्न कुछ भी नहीं है, परन्तु यहां उन्हें विभिन्न अवस्थाओं या परिसरों में इसकी सत्ता के प्रतिबिम्बित होने के द्वारा अनेकों में व्यक्त होते हुए एक चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब माना गया है। प्रकृति से लेकर परमाणु तक, विभिन्न रूपों में प्रवेश करते हुए केवल जड़ पदार्थ ही प्राप्त होते हैं। यह सम्भव नहीं था यदि वे एक चेतन रचयिता द्वारा रचे और ढाले न जाते। खंडों से युक्त यह विश्व एक कार्य है, और इसलिए इसके निर्माण के लिए एक कर्त्ता होना ही चाहिए। परम ईश रचयिता के रूप में यह कर्तृत्व शिव से सम्बद्ध है, आत्मा या बन्धन से नहीं। आत्मा स्वयं ईश्वर की इच्छा से गतिशील होती है। जब कोई व्यक्ति अपने को अपने कर्म का कर्त्ता समझता है, तो यह कारण की प्रकृति का अन्यथा ज्ञान ही है।

जब मनुष्य स्वयं को वास्तविक प्रेरक कर्त्ता से भिन्न समझने लगता है केवल तब ही मनुष्य अंत में अमरत्व प्राप्त कर सकता है। क्षर व अक्षर अर्थात् पाश व पशु सब परस्पर संयोजित हैं, तथा उन दोनों का उनके व्यक्त एवं अव्यक्त रूप में पालन महेश्वर द्वारा होता है। तथाकथित अनेकता भी महेश्वर द्वारा व्याप्त है। केवल ईश्वर ही सबका प्रभु तथा शरणदाता है। यद्यपि यह एक है तथापि वह अपनी अनेकरूप शक्तियों द्वारा विश्व का आलम्बन हो सकता है।

वायवीय-संहिता के प्रथम भाग का यह छठा अध्याय मुख्यतः श्वेताश्वर उपनिषद् से प्राप्त विषयों की व्याख्या करता है तथा श्वेताश्वर उपनिषद् के दर्शन का विस्तार माना जा सकता है। ईश्वर स्वयं सब पदार्थों में व्याप्त है तथा उसमें किंचित मात्र भी अशुद्धि नहीं है। इसी उद्देश्य के लिए उपनिषद् के अनेक वाक्य भी इसमें समाविष्ट किए गए हैं तथा ब्रह्मन् से शिव का तादात्म्य किया गया है। इस ग्रन्थ के पिछले भागों में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि ब्रह्मसूत्रों, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याकारों के संप्रदायों की अनेक टीकाओं में भी संबद्ध ग्रंथकारों के विशेष विचारों के अनुसार उपनिषदों की व्याख्या की गई है। शिव-महापुराण में भी हम शैवमत के दर्शन की घोषणा के लिए उपनिषदों के अनुसरण का प्रयत्न पाते हैं। इसे बारम्बार प्रमुखता दी गई है कि केवल एक ही ईश्वर है तथा उससे अन्य कोई नहीं है, इसके उपरांत भी जगदाभास का रूपांतर स्पष्ट करने के लिए माया अथवा प्रकृति का विचार उपस्थित किया गया है। हमने पहले देखा है कि माया ब्रह्मन् की शक्ति मानी जाती है। परंतु ईश्वर के साथ इस शक्ति के संबंध के विषय में अधिक तर्क नहीं दिए गए हैं। उपनिषदों के अनुसार यह भी कहा गया है कि ईश्वर में स्वाभाविक रूप से ज्ञान तथा बल निहित हैं। परंतु हमें यह ज्ञात किए बिना दार्शनिक संतोष नहीं होता कि ज्ञान तथा बल का वास्तविक स्वरूप क्या है, तथा इस बल का प्रयोग किस प्रकार होता है, एवं इस महेश्वर के संबंध में ज्ञान का अर्थ क्या हो सकता है, जिसके कोई इन्द्रियाँ तथा कोई मनस् नहीं हैं।

७-१-६-६७ में ईश्वर का वर्णन इस रूप में है कि वह जो काल उत्पन्न करता है, समस्त गुणों का प्रभु है, तथा समस्त बंधनों से मुक्तिदाता है। काल के स्वरूप के विषय में एक प्रश्न उठता है। ऐसे प्रश्न के उत्तर में वायु कहते हैं कि काल हमारे सम्मुख क्रमानुसार, क्षणों तथा अवधि के रूप में प्रकट होता है। काल का यथार्थ सार शिव की शक्ति है। अतः चाहे जो भी हो, किसी जीव द्वारा काल का उल्लंघन नहीं हो सकता। यह तो जैसे ईश्वर की आज्ञा देने की शक्ति है।[1] इस प्रकार काल शिव की वह शक्ति है जो उससे उत्पन्न होती है तथा सब पदार्थों में व्याप्त है। इस कारण प्रत्येक वस्तु काल द्वारा शासित है। परंतु शिव काल के बंधन में नहीं है। वह समस्त काल का स्वामी है। ईश्वर का अप्रतिबंध अधिकार काल द्वारा व्यक्त होता है, तथा इसी कारण कोई मनुष्य काल की सीमा के परे नहीं जा सकता। किसी भी परिमाण में हमें विवेक काल से परे नहीं ले जा सकता तथा जो भी कर्म काल में किए जाते हैं, उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यह काल ही है जो मनुष्यों के कर्मों के अनुरूप उनका भाग्य तथा प्रारब्ध निश्चित करता है, इसके उपरांत भी कोई नहीं कह सकता कि काल के सार का स्वरूप क्या है।

हमने अभी तक यह देखा है कि ईश्वर के अटल संकल्प तथा आज्ञा द्वारा पुरुष के निरीक्षण में प्रकृति हमारे सम्मुख संसार के रूप में विकसित होती है। प्रकृति अथवा अव्यक्त के तत्त्वों के क्रम की शास्त्रीय सांख्य से अधिक समानता है। सांख्य की सुप्रसिद्ध शास्त्रीय विचारधारा में सृष्टि अव्यक्तावस्था से विकास अथवा उत्पत्ति की प्रक्रिया है तथा प्रति-गमन की प्रक्रिया द्वारा प्रलय होता है जिसमें वही प्रक्रिया तबतक विपरीत दिशा में होती रहती है तबतक कि संपूर्ण जगदाभास अव्यक्त अथवा प्रकृति में वापस नहीं चला जाता।

पुनः, महेश्वर शिव के स्वरूप तथा कार्य के विषय में यह कहा गया है कि दूसरों की सहायता की प्रवृत्ति के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे शिव का आवश्यक स्वरूप माना जा सके। दूसरों को उनके कर्मो द्वारा उनकी सर्वोत्तम श्रेय की प्राप्ति में सहायता देना ही उसका कार्य है। पशु तथा पाश से युक्त संसार की सेवा के अतिरिक्त उसका कोई अन्य विशेष लक्षण नहीं है। ईश्वर के अनुग्रह के इस विस्तार को प्रायः उसके आज्ञापनकारी संकल्प के रूप में वर्णित किया है। ईश्वर के संकल्प की पूर्ति के लिए ही मनुष्य को किसी ऐसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा, जिसके शुभ के लिए ईश्वर का संकल्प अग्रसर होता है। इस कारण ईश्वर को अपने सकल्प के संपादन के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं कहा जा सकता। उसके संकल्प में तथा उसके द्वारा ही वस्तुएँ कर्मानुसार क्रमबद्ध प्रक्रिया में अस्तित्वगत तथा अग्रसर होती हैं। ईश्वर की

---

[1] नियोगरूपमीशस्य बलं विश्व-नियामकम्। —शिव-महापुराण, ७-१-७-७।

स्वतंत्रता के अर्थ हैं कि वह किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं हैं, निर्भरता का अर्थ वह अवस्था है जिसमें एक वस्तु दूसरे पर निर्भर है।[1]

संपूर्ण संसार अज्ञान पर निर्भर माना जाता है तथा संसार के आभास में कोई वास्तविकता नहीं है। धर्म-ग्रन्थों में वर्णित शिव की सब विशेषताएँ केवल सोपाधिक धारणाएँ हैं, वास्तव में ऐसा कोई आकार नहीं है जिससे शिव को विशेषित किया जा सके।[2]

संसार के विकास के विषय में जो सब अब तक कहा गया है वह तर्कशुद्ध अनुमान पर ही आधारित है, जबकि ईश्वर की अनुभवातीत सत्ता तर्क से परे है। हमारी आत्मा के स्वरूप के कुछ समान ही ईश्वर की कल्पना करने के कारण हम उसको महा-प्रभुत्व से विभूषित करते हैं। जिस प्रकार अग्नि लकड़ी से भिन्न होते हुए भी उसके बिना या बाहर नहीं देखी जा सकती उसी प्रकार हम शिव को, उन मनुष्यों में तथा उनके माध्यम से सर्वशक्तिमान् के रूप में देखते हैं जिसमें वह अभिव्यक्त होता है। विचार की इसी प्रक्रिया के विस्तार से शिव की प्रतिमा को शिव समझा जाता है तथा उसकी पूजा की जाती है।

शिव सदैव समस्त जीवों की सहायता करता है तथा किसी को हानि नहीं पहुँचाता है। यदि ऐसा प्रकट हो कि उसने किसी को दंडित किया है तब वह केवल दूसरों के शुभ के लिए ही होता है। अनेक दृष्टांतों द्वारा विदित होता है कि ईश्वर द्वारा प्रदान किया हुआ दंड संबंधित जीवों की अशुद्धियों को शुद्ध करने के लिए होता है। समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का आधार ईश्वर की आज्ञा में मिल सकता है, जिसमें मनुष्य का व्यवहार निर्धारित किया गया है। शुभ का अर्थ उसके संकल्प के अनुरूप आज्ञा पालन है। जो सदैव दूसरों का शुभ करने में संलग्न रहता है, वह आदेशों का पालन कर रहा है, तथा उसे अशुद्ध नहीं किया जा सकता। ईश्वर केवल उन्हीं को दंडित करता है जो किसी अन्य विधि द्वारा उचित मार्ग पर नहीं लाए जा सकते। यह अवश्य है कि उसका दंड कभी भी क्रोध अथवा द्वेष की भावना के कारण नहीं होता। वह उस पिता के समान जो अपने पुत्र को उचित मार्ग की शिक्षा देने के लिए ताड़ना देता है। वह जो दूसरों पर अत्याचार करता है, ताड़ना का भागी है। ईश्वर दूसरों को पीड़ा देने के लिए व्यथित नहीं करता, वरन् केवल उनको ताड़ना देने के लिए तथा उन्हें उचित मार्ग के उपयुक्त बनाने के लिए ऐसा करता है। वह एक चिकित्सक के समान

---

[1] अतः स्वातंत्र्य-शब्दार्थानपेक्षत्व-लक्षणः। —तत्रैव ७-१-३१-७।

[2] अज्ञानाधिष्ठितं शम्भोर्न किंचिदिह विद्यते,
येनोपलभ्यतेऽस्माभिस्सकलेनापि निष्कलः।

—शिव-महापुराण ७.१.३१.६।

प्रकृति को उस सूक्ष्म तथा भौतिक संसार के दो प्रकार से विकास करने के लिए प्रेरित करती है। पुरुष संसार में दो प्रकार के कार्य करते हैं, अर्थात् सुख व दुःख के भोग तथा ज्ञान द्वारा कैवल्य-प्राप्ति। इस अर्थ में प्रकृति पुरुषों के उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिमान मानी जाती है। सांख्य के पातंजल संप्रदाय में, जिसे योग सूत्र भी कहा जाता है, व्यास तथा वाचस्पति की व्याख्या के अनुसार प्रकृति का निर्माण करने वाले गुणों में एक स्वाभाविक बाधा आ जाती है, जो उनके विकास के क्षेत्र को सीमित कर देती है। यह माना जाता है कि ईश्वर के स्थाई संकल्प के अनुसार मनुष्यों के कर्मानुसार वस्तुएँ अमुक-अमुक विशेष दिशाओं में विकसित होंगी। प्रकृति की अथवा गुणों की शक्ति स्वाभाविक रूप से उसी दिशा में अग्रसर होती हैं जहाँ से बाधाएँ हटा दी गई हों। ईश्वर स्वयं प्रकृति को किसी विशेष दिशा की ओर नहीं बढ़ाता। उसका कार्य विशेष दिशाओं में विकास के मार्ग से प्रतिबन्धकों को हटाने का है। यदि ऐसी बाधाएँ न होतीं अथवा यदि समस्त बाधाएँ पहले से ही हटी हुई होतीं, तो प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु हो सकती थी। उस स्थिति में विकास का कोई निश्चित क्रम ही नहीं बन पाता तथा विभिन्न उपाधियों, दिक् एवं काल की कोई सीमा नहीं होती। जिस प्रणाली की हम व्याख्या कर रहे हैं, उसमें यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि व्यक्तियों में ये स्वाभाविक बाधाएँ अशुद्धियों के अस्तित्व के कारण ही होती हैं तथा यह माना गया है कि ईश्वर की सर्वव्यापी प्रकृति द्वारा आत्माओं को मोक्ष इन नैसर्गिक बाधाओं (प्रतिवंधकों) को हटाने के द्वारा ही प्राप्त करवाया जाता है। इस उद्देश्य के लिए जीव स्वयं भी कठोर परिश्रम करते हैं तथा ईश्वर के सामीप्य से शांति की प्रक्रिया क्रियान्वित होती है। यह ईश्वर का अनुग्रह कहलाता है, शब्द के साधारण अर्थ में नहीं वरन् एक ऐसी विश्वजनीन प्रक्रिया के अर्थ में जो समस्त पदार्थों तथा मनुष्यों को उनकी अपनी योग्यताओं के अनुसार उनके विकास में सहायता देती है। ईश्वर का आदेश एक कृत्रिम ईश्वर के आदेशों के समान नहीं है परन्तु इसका अर्थ केवल सबके शुभ के लिए विश्वजनीन प्रक्रिया को अग्रसर करते रहना है। इस प्रक्रिया को करते समय कुछ मनुष्यों को अपने स्वयं के शुभ के लिए दुःख सहन करना होगा तथा कुछ मनुष्य अपनी योग्यतानुसार पारितोपिक भी प्राप्त कर सकते हैं। ईश्वर स्वयं संसार के आभासों से परे है, वह वास्तव में अपने संकल्प से किसी पदार्थ को प्रभावित करने का प्रयत्न नहीं करता, परंतु यह तथ्य है, कि वह समस्त पदार्थों में व्याप्त है, उनकी अशुद्धियों को हटा देता है, ताकि संपूर्ण विश्व का विकास उसकी इच्छा के अनुकूल हो सके।

यद्यपि आत्मा एक ही है तथापि कुछ आत्माएँ बंधन में है, तथा कुछ मुक्त अवस्था में है। वे आत्माएँ जो बंधन में हैं, उन्नति की विभिन्न स्थितियों में भी हो सकती हैं तथा तदनुसार उन्हें विभिन्न प्रकार के ज्ञान तथा बल प्राप्त हो सकते हैं। आत्मा से संयुक्त अशुद्धियों को आम तथा पक्व माना जा सकता है तथा उनके द्वारा जो भी कर्म

किए जाते हैं उनका फल भोगने के लिए वे इन दो रूपों के अनुसार जन्म और पुनर्जन्म के चक्र में फँसती है। यद्यपि आत्माएँ मल से संयुक्त हैं तथापि वे शिव में तथा शिव उनमें व्याप्त है। जैसे-जैसे मल हटते जाते हैं वैसे-वैसे शिव का सामीप्य अधिक व्यक्त होता जाता है, तथा मनुष्य अधिकाधिक शुद्ध होता जाता है और अन्ततः वह शिव के समान हो जाता है। आत्माओं की भिन्नता का कारण केवल मलरूपी उपाधि का अनुपात है। मल के स्वरूप तथा उपाधि के कारण एक आत्मा दूसरी से भिन्न प्रतीत होती है। संसार में समस्त दुःखों का मूल कारण अशुद्धियाँ हैं, तथा एक दैवी चिकित्सक की भाँति शिव का यह कार्य माना गया है कि वह हमें ज्ञान द्वारा अशुद्धियों से दूर ले जाए। केवल ज्ञान ही ऐसा साधन है जिससे समस्त पाप दूर हो सकते हैं। यह आपत्ति की जा सकती है कि, क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् होने के नाते क्यों नहीं मनुष्यों को बिना दुःख सहन किए मोक्ष प्राप्त करा सकता है। इस प्रश्न का यह उत्तर प्रस्तावित किया गया है कि कष्ट तथा दुःख, संसार के स्वरूप का निर्माण करते हैं जो जन्म और पुनर्जन्म के रूप में प्रकट है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, उन पदार्थों की स्वाभाविक उपाधियों द्वारा सीमित है, जिन पर ईश्वर का संकल्प कार्य करता है। मलों का स्वरूप दुःख तथा कष्टरूपी होने के कारण यह सम्भव नहीं कि उन्हें कष्ट-रहित बनाया जा सके, तथा इस कारण उस अवधि में जिसमें मनुष्य संसार में मलों की शुद्धि की प्रक्रिया में से निकलता है, उसे आवश्यक रूप से कष्ट सहना पड़ेगा। जीव स्वाभाविक रूप से अशुद्ध तथा दुःख-पूर्ण होते हैं, तथा ईश्वर के आदेश की अनुपालना को क्रियान्वित कर, जो औषधि का कार्य करता है, ये जीव मुक्त होते हैं। उन समस्त अशुद्धियों का कारण, जो संसार को उत्पन्न करती हैं, माया तथा भौतिक संसार है एवं शिव के सामीप्य के अतिरिक्त ये किसी और विधि से गतिमान नहीं हो सकते। जिस प्रकार चुम्बक की निकटता के कारण, बिना उसके कुछ किए, लोहे के टुकड़े गतिमान हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश्वर के अव्यवहित सामीप्य से अपने लाभ-हेतु संसार प्रक्रिया गतिमान होती है। यद्यपि ईश्वर अनुभवातीत है तथा उसे संसार का ज्ञान नहीं होता तथापि उसके सामीप्य के तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वह संसार का निरीक्षक-भूत कारण है। संसार की समस्त गति शिव के कारण है। जिस शक्ति से वह संसार का नियंत्रण करता है वह उसका आज्ञा देने वाला संकल्प ही है जो उसके सामीप्य के समान ही है। यह विचार-सरणि वाचस्पति द्वारा उनके योगसूत्र-भाष्य में उपस्थित किए हुए तर्क का हमें स्मरण दिलाती है जिसमें यह कहा गया है कि यद्यपि पुरुष कुछ नहीं करता तथापि इसका सामीप्य प्रकृति में एक विशेष प्रकार की योग्यता उत्पन्न करता है, जिसके कारण प्रकृति पुरुष के उद्देश्य की पूर्ति के लिए गतिमान होती है। इसी संबंध में चुम्बक तथा लौहचूर्ण का उदाहरण भी दिया गया है। क्योंकि समस्त संसार केवल शिव की शक्ति की अभिव्यक्ति है अतः हम यह कल्पना कर सकते हैं कि जब संसार में कुछ नहीं था, तब वह अपना

महिमामय आदेश और संकल्प लिए हुए अकेला ही अस्तित्व में था तथा उस संकल्प के क्रियान्वय में वह सांसारिकन अशुद्धियों द्वारा दूषित नहीं होता था।

इस संबंध में वायु का यह कथन उद्धृत है कि ज्ञान परोक्ष तथा अपरोक्ष दो प्रकार का होता है। जो तर्क अथवा निरीक्षण द्वारा ज्ञात किया जाता है वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान केवल उच्च स्तर की अभ्यास साधना द्वारा ही उदित हो सकता है, तथा ऐसे अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष नहीं मिल सकता।

वायवीय-संहिता ७-२ के प्रस्तुत खंड में हम पिछले खंड में व्यक्त दार्शनिक विचार का रूपांतर देखते हैं, तथा यह विशेष ध्यान देने योग्य है। पिछले खंड में यह कहा गया था कि जीवों की अशुद्धियाँ उनके लिए स्वाभाविक हैं, तथा ईश्वर को अपने संकल्प से जीवों की स्वाभाविक सीमाओं के अनुरूप उनका पुनर्निर्माण, अथवा पुनः रूपांतर या जन्म व पुनर्जन्म के चक्र द्वारा अशुद्धियों की शुद्धि करनी पड़ती है, जिससे यद्यपि ईश्वर का संकल्प सब पर समान रूप से कार्य करता है, तथापि उसका परिणाम सब में समान नहीं होता। मनुष्यों के दुःख विभिन्न आत्माओं की स्वाभाविक अशुद्धियों द्वारा जनित बाधाओं तथा प्रतिरोधों के कारण हैं। इसलिए ईश्वर के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सब आत्माओं को बिना जन्म-पुनर्जन्म का दुःख सहन करवाए मुक्त कर दे।

यह विचार, कि आत्माएँ स्वाभाविक रूप से अशुद्ध होती हैं, जैनों तथा पंचरात्र संप्रदाय के अनुयायियों में भी मिलता हैं।[1] शांकर वेदांत के अनुसार जीव ब्रह्म के समान ही समझे जाते हैं, परंतु फिर भी यह माना जाता है कि जीव उस अनादि अविद्या से युक्त हैं जो बाद में आत्मा के यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार द्वारा नष्ट की जा सकती है। अतः एक प्रकार से जीव अनादि काल से अशुद्धि के आवरण में रहते हैं। परंतु वायवीय-संहिता के द्वितीय भाग में (जिसकी हम व्याख्या कर रहे हैं) यह कहा गया है कि ईश्वर स्वयं समस्त जीवों को माया आदि अशुद्धियों द्वारा बांधता है तथा केवल वह अपनी इच्छानुसार संबंधित जीवों की भक्ति के अनुरूप, उन्हें मुक्त कर सकता है।[2] सांख्य के समस्त चौबीस तत्व माया की क्रिया[3] से जनित माने जाते हैं तथा जो विषय

---

[1] जैन मत का प्रासंगिक अंश देखिए भाग १, पृ० १६६ में, तथा पंचरात्र का मुख्यतः अहिर्बुध्न्य संहिता का दर्शन भाग ३ में पृ० २१ तथा ३४।

[2] मलमायादिभिः पाशैः स बध्नाति पशून् पतिः,
स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः।

—शिव-महापुराण, ७-२-२-१२।

[3] माया दो प्रकार की है, प्रकृति तथा शुद्ध माया। शुद्ध माया से ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र देवता उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का स्वरूप वही है जो सांख्य में वर्णित है जिसमें

कहलाते हैं वे ऐसे पाश अथवा बंधन हैं, जिनसे मनुष्य बंधे हुए हैं। घास की पत्ती से लेकर ब्रह्मन् तक सब जीवों को बांधकर महाप्रभु परमेश्वर उनसे उनके कर्त्तव्य करवाता है। प्रभु की आज्ञा से ही प्रकृति पुरुषों की सेवा के लिए बुद्धि उत्पन्न करती है तथा बुद्धि से अहंकार, इंद्रियाँ, तन्मात्र तथा स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी का आज्ञा-नुसार विभिन्न जीव विभिन्न उपयुक्त शरीरों से संयुक्त होते हैं। ईश्वर के संकल्प से संसार चक्र की निमित्त प्रक्रिया परिलक्षित होती है। ईश्वर के इस संकल्प अथवा आज्ञा से परे होना किसी के लिए भी संभव नहीं है। सब प्रक्रियाओं का नियंत्रण करने वाले ईश्वर के इस आदेश के अनुसार ही पापियों को दंड मिलता है एवं उत्तम कर्मो का संपादन करने वाले ज्ञान तथा धन-सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। केन उपनिषद् के एक दृष्टांत को यह दिखाने के लिए उद्धृत किया है कि समस्त देवों की सामर्थ्य तथा स्वाभाविक शक्तियाँ ईश्वर से उत्पन्न हुई हैं। अतः संपूर्ण संसार को भगवान् शिव की अभिव्यक्तियाँ माना जा सकता है।

विभिन्न रूपों, कार्यों तथा नियंत्रणकारित्व के स्वरूपों के अनुसार भगवान् शिव के विभिन्न नाम हैं। इस प्रकार जब वह पुरुष तथा प्रकृति को भोगता है तब ईशान कहलाता है। यह ईशान आठ प्रकार के रूपों में प्रकट होता है जिसे शास्त्रीय भाषा में अष्टमूर्ति कहा गया है। ये इस प्रकार हैं—क्षिति, जल, पावक, वायु, आकाश, आत्मा, सूर्य तथा चंद्रमा। अतः ये विभिन्न कार्यों का संपादन करते हैं। शार्वी, भावी, रौद्री आदि नाम, इन विभिन्न मूर्तियों के पर्यायवाची शब्द भी प्रचलित हैं जैसे–रौद्री वह रूप है जिसमें समस्त संसार स्पन्दित होता है। आत्मा स्वयं शिव का एक रूप है जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

शिव की सर्वोत्तम पूजा इस प्रकार की जा सकती है कि समस्त मनुष्यों की भय से सुरक्षा की जाए, प्रत्येक का शुभ किया जाए तथा प्रत्येक की सेवा की जाए आदि। समस्त मनुष्यों को संतुष्ट करने से ईश्वर संतुष्ट हो जाता है। किसी भी जीवित प्राणी को हानि पहुँचाने का अर्थ स्वयं ईश्वर के रूपों में से एक को हानि पहुँचाना होता है।

हमने उपर्युक्त परिच्छेदों में स्पष्ट किया है कि समस्त संसार ईश्वर का एक भौतिक स्वरूप है। यह विश्वदेवतावाद, शंकर तथा उसके अनुयायियों द्वारा व्याख्यात वेदांत के एकतत्त्ववाद से भिन्न है। वेदांत में सच्चिदानंद के रूप में ब्रह्मन् की ही सत्ता है,

---

सब जीव वापस जाते हैं तथा इसी कारण प्रकृति लिंग कहलाती है, जबकि शास्त्रीय सांख्य लिंगपद को 'महत्' के अर्थ में ही प्रयुक्त करता है तथा प्रकृति को अलिंग कहता है। वहाँ महत् लिंग कहलाता है क्योंकि उससे अपने किसी मूल कारण की ओर इंगित होता है तथा अनन्त कारण होने के कारण प्रकृति अपने पीछे कोई मूल कारण इंगित नहीं करती।

है, तथा प्रत्येक अन्य पदार्थ जिसका हम प्रत्यक्ष करते हैं, केवल ब्रह्म की सत्ता पर एक प्रत्याभास है। अंततः वे सभी मिथ्या हैं। जब मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है तब यह मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। संसार आभासित तो होता है, परन्तु एक समय ऐसा आ सकता है जबकि वह एक मुक्तजन के समक्ष पूर्णतया लुप्त हो जाय। किन्तु यहाँ जीव तथा निर्जीव विभिन्न रूपों में स्थित भौतिक संसार को केवल ईश्वर के विभिन्न स्वरूप ही माना है, जो ईश्वर द्वारा नियन्त्रित हैं। इन स्वरूपों को उन आत्माओं के लाभ के लिए ईश्वर गतिमान करता है, जो ईश्वर के रूप ही हैं।

इस सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि ईश्वर नर तथा मादा की शक्तियों के रूप में संसार में किस भाँति व्याप्त हैं। इस प्रश्न के उत्तर में उपमन्यु यह उत्तर देते हैं कि 'शक्ति' या महादेवी, महादेव की ही शक्ति है तथा समस्त संसार उन दोनों की अभिव्यक्ति है। कुछ पदार्थ चेतना के स्वरूप के हैं तथा कुछ पदार्थ अचेतन स्वरूप हैं। वे दोनों ही शुद्ध अथवा अशुद्ध हो सकते हैं। जब चेतना अचेतन तत्वों से संयुक्त होती है तब जन्म तथा पुनर्जन्म के चक्रों से होकर जाती है तथा अशुद्ध कहलाती है। जो इन सम्बन्धों से परे है, शुद्ध है। शिव तथा उसकी शक्ति एक साथ रहते हैं एवं समस्त संसार उनके शासन में हैं। जिस प्रकार चंद्रमा तथा चांदनी में अन्तर करना संभव नहीं उसी प्रकार शिव तथा शक्ति में अन्तर करना असम्भव है। इस प्रकार शक्ति अथवा शक्तिमान का बल तथा शक्ति का अधिकारी परमेश्वर परस्पर निर्भर हैं। शिव के बिना शक्ति नहीं हो सकती तथा शक्ति के बिना शिव नहीं हो सकते। इसी शक्ति से प्रकृति, माया तथा तीन गुणों की प्रक्रिया द्वारा समस्त संसार की सृष्टि होती है। प्रत्येक स्थान पर शक्ति का कार्य कला शिव के संकल्प द्वारा नियन्त्रित है, तथा अन्त में यह शिव में वापस चली जाती है। शिव में निहित इस मूल शक्ति से क्रियाशील शक्ति (क्रियाख्या शक्ति) उत्पन्न होती है। मूल साम्यावस्था में जब बाधा उत्पन्न होती है तो नाद उत्पन्न होता है, उससे बिंदु से सदाशिव, सदाशिव से महेश्वर और उनसे शुद्ध विद्या उत्पन्न होती है, तथा यह वाणी की शक्ति कहलाती है। यह अपने आपको वर्णमाला की ध्वनियों में भी अभिव्यक्त करती है। माया की इस अभिव्यक्ति से काल, नियति, कला तथा विद्या उत्पन्न होती है। पुनः इस माया से अव्यक्त का निर्माण करने वाले तीन गुण उत्पन्न होते हैं। जैसाकि सांख्य में वर्णित है, अव्यक्त से तत्वों का विकास होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शरीर में आंतरिक नियंता प्रवेश करता है उसी प्रकार शिव अपनी शक्ति के रूप में समस्त संसार में प्रवेश करता है। इसी कारण सब जीव तथा निर्जीव केवल शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। परमेश्वर, जो विद्या, क्रिया तथा संकल्प से संयुक्त होकर तथा उन सबके द्वारा समस्त संसार में व्याप्त है, तथा उसका नियन्त्रण करता है। संसार का क्रम तथा संसार-प्रक्रिया भी उसके संकल्प द्वारा निश्चित होती है।

परमेश्वर जिसे कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, उसे अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा कार्य-रूप में निर्मित करते हैं, अतः जिस प्रकार तीन अभिव्यक्त शक्तियों के रूप में तीन गुण उसमें उदित होते हैं, उसी प्रकार संसार भी जो शिव के साथ तादात्म्य है, उसकी शक्ति का ही एक रूप है क्योंकि यह उसकी शक्ति द्वारा अस्तित्वगत है।[1] शिव की यह शक्ति माया है।

शिव-महापुराण, शैवागमों का उल्लेख, शिव द्वारा शिवा को दिए हुए उपदेशों के रूप में करता है। अतः यह प्रतीत होता है कि शैवागम शिवमहापुराण से बहुत पूर्व लिखे गए थे तथा शैवागमों का सार शिवमहापुराण में, पाशुपत विचार स्पष्ट करने के लिए, संकलित किया गया है। शैवागमों के उपदेश, शिव के भक्तों की सुविधा के लिए, शिव के अनुग्रह द्वारा परम शुभ की प्राप्ति के निमित्त के रूप में दिए गए माने जाते हैं।[2]

जहाँ तक प्रत्यक्ष अथवा अनुभूत ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष का सम्बन्ध है, इस बारे में शिव का कहना है कि उनके प्रति शुद्ध हृदय की श्रद्धा ही उन तक पहुँच हो सकती है। तप, भवन अथवा आसनों, यहाँ तक कि शिक्षा तथा ज्ञान द्वारा भी नहीं। श्रद्धा वह आधार है जिस पर मनुष्य को दृढ़ रहना चाहिए तथा इस श्रद्धा की प्राप्ति वर्णाश्रम के स्वाभाविक धर्मों के अनुसरण द्वारा हो सकती है। इस प्रकार श्रद्धा को स्वच्छंद भाव नहीं, वरन् प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिए निर्धारित धर्मों के दीर्घ परम्परागत अभ्यास के परिणाम के रूप में माना जा सकता है।

शैव धर्म में ज्ञान, कर्म कठोर चर्या तथा योग सम्मिलित हैं। ज्ञान का अर्थ आत्माओं के स्वरूप, विषय तथा परमेश्वर के ज्ञान मे है। कर्म का अर्थ गुरु के उपदेशानुसार शुद्धि है। चर्या का अर्थ शिव द्वारा निर्देशित वर्णानुरूप अधिकारों के अनुसार शिव की उचित पूजा है। योग का अर्थ समस्त मानसिक अवस्थाओं का निषेध है। ईश्वर का निरन्तर चिंतन इसमें शामिल नहीं। ज्ञान वैराग्य से उदित होता है तथा ज्ञान से योग उत्पन्न होता है। यम तथा नियम पापों को दूर करते हैं तथा जब

---

[1] एवं शक्तिसमायोगाच्छक्तिमानुच्यते शिवः
शक्ति-शक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवं मिदं जगत्। शिव-महापुराण, ७.२.४.३६।

[2] श्रीकण्ठेन शिवेनोक्तं शिवायै च शिवागमः,
शिवाश्रितानां कारुण्याच्छ्रेयसामेकसाधनम्। —तत्रैव, ७.२.७.३८।

यह कहना कठिन है कि यह उल्लेख शैव-विचार के महा कारुणिक सम्प्रदाय की ओर संकेत करता है अथवा नहीं जैसाकि शंकर-भाष्य में शंकर ने शैवमत की आलोचना के उपान्त विषय में दिया है।

—ब्रह्मसूत्र २-२।

मनुष्य को सांसारिक विषयों के प्रति निवृत्ति होती है तब वह योगमार्ग की ओर जाता है। इस सम्बन्ध में सार्वलौकिक उदारता, अहिंसा, सत्यता, प्रत्याहार, परम-श्रद्धा, शिक्षा, यज्ञ संपादन की क्रिया तथा ईश्वर के साथ स्वयं के तादात्म्य का चिंतन स्वाभाविक उपादान माने जाते हैं। इसी कारण जो मोक्ष-प्राप्ति की कामना करते हैं, उन्हें अपने को गुण व अवगुण, उचित व अनुचित से दूर रखना चाहिए। जिन्होंने वह अवस्था प्राप्त कर ली है जिसमें पाषाण तथा स्वर्ण का एकसा ही मूल्य है अथवा कोई मूल्य नहीं है, उन्हें ईश्वर की पूजा की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वे मुक्त जीव हैं।

मानसिक शुद्धता शारीरिक शुद्धता से सौ गुनी उत्तम है, क्योंकि मानसिक शुद्धता के बिना कोई भी शुद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर केवल मनुष्य के आंतरिक भावों को ही स्वीकार करता है, जो कुछ शुद्ध भावना के बिना किया जाता है वह नकली है, अनुसरण मात्र है। ईश्वर के प्रति भक्ति-भावना निःस्वार्थ होनी चाहिए, किसी लाभ के लिए नहीं। किन्तु यदि मनुष्य किसी लाभ की प्राप्ति के लिए भी ईश्वर से अनुरक्त हो तब भी उसकी भक्ति-भावना और श्रद्धा की गहनता के अनुसार ईश्वर उससे प्रसन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट होता है कि भक्ति-भावना की शारीरिक अभिव्यक्तियों के रूप में भावनाओं का वाह्य-प्रदर्शन, शिव की भक्ति कथा के श्रवण में रुचि, गला भर आना, अश्रुप्र-वाह तथा निरन्तर चिंतन एवं ईश्वर पर निर्भरता सभी यथार्थ भक्तों के महत्वपूर्ण लक्षण समझे जाते हैं, चाहे समाज में उसका कोई भी वर्ण अथवा स्तर हो।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्माओं के स्वरूप का ज्ञान, उनके वन्धनकारी तथ्य तथा परमेश्वर के ज्ञान की प्राप्ति, यही मोक्ष का वास्तविक और व्यावहारिक मार्ग है। इस ज्ञान के साथ ही गुरु के उपदेशानुसार आचरण करना चाहिए। इसे क्रिया नाम दिया गया है। गुरु को शैवपंथ के अनुसार शिव का अवतार माना जाता है। धर्म-ग्रंथों में निर्धारित विभिन्न वर्णाश्रमों के लिए निर्दिष्ट धर्मों के आचरण द्वारा जिसे चर्या नाम दिया गया है और जिसमें ईश्वर की पूजा भी सम्मिलित है, इस क्रिया की पूर्ति करनी पड़ती है। जबकि अन्य समस्त मानसिक अवस्थाओं का अवरोध हो चुका हो तब शिव को ध्यान का केन्द्र मानकर भक्तिपूर्ण चिंतन की प्रक्रिया भी इस क्रिया के साथ होनी चाहिए। इन विषयों की व्याख्या करने वाले धर्म-ग्रंथ दो प्रकार के हैं, एक वेदमूलक तथा दूसरे स्वतन्त्र मूल के। स्वतन्त्र मूल के धर्म-ग्रंथ (आगमों के समान) अट्ठाईस प्रकार के हैं जो कामिक इत्यादि कहलाते हैं जिन्हें सिद्धान्त के नाम से भी पुकारा जाता है।[1]

---

[1] एच०डब्लू शौमरस अपनी 'शैव-सिद्धांत' पुस्तक पृ० ३ में कहते हैं कि शिव-ज्ञान-बोध की एक टीका के अनुसार जिसकी व्याख्या हम आगे करेंगे, शैवमत के ६ तथा १६

७-१-३२ में कुछ ऐसी गोपनीय तथा गूढ़ शारीरिक प्रक्रियाएँ वर्णित हैं जिनके द्वारा मनुष्य शिव अर्थात् महादेव में निहित अमरत्व से सम्पर्क स्थापित कर सकता है।[1]

७-२-३७ में योग को पाँच प्रकार का बताया है—मंत्रयोग, स्पर्शयोग, भावयोग, अभावयोग तथा महायोग। मंत्रयोग वह है जिसमें कुछ मंत्रों की निरंतर आवृत्ति द्वारा मानसिक स्थिति स्थिर हो जाती है। जब इसको प्राणायाम से संयुक्त कर लेते हैं तब इसे स्पर्शयोग कहते हैं। जब यह अवस्था आगे विकसित होती है तथा जब मंत्रों के उच्चारण की आवश्यकता नहीं रहती है तब इसे भावयोग कहते हैं। योग की इस प्रक्रिया को अधिक उन्नत करने पर अपने विभिन्न स्वरूपों में जगदाभास सर्वथा लुप्त हो जाता है तथा इसे अभावयोग कहते हैं। इस स्थिति में योगी का संसार से कोई संबंध नहीं रहता। वह स्वयं को शिव का स्वरूप तथा तादात्म समझने लगता है, तथा उसका समस्त उपाधियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इसको महायोग की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य की सांसारिक विषयों से विरक्ति हो जाती है, चाहे वे इंद्रियों द्वारा अनुभव किए गए विषय हों, अथवा धार्मिक-ग्रन्थों में निर्धारित रीतिरिवाज़ हों। निःसंदेह योग के इस अभ्यास में योगसूत्रों में निर्धारित यम तथा नियम के अभ्यास, विभिन्न आसनों के अभ्यास, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान-समाधि सम्मिलित हैं। विभिन्न प्रकार के योगों तथा उनके उपादानों की प्रक्रिया शैव धर्म-ग्रंथों एवं कामिक तथा अन्य आगमों में भी उल्लिखित है। जहाँ तक शिवमहापुराण का सम्बन्ध है, हम इसमें वर्णित विभिन्न उपादानों जैसे, यम, नियम, आसन आदि के अभ्यासों में, तथा पतंजलि के योग-शास्त्र में वर्णित यमनियमादि प्रकारों में अधिक अन्तर नहीं पाते। केवल एक

सम्प्रदाय हैं। शौमरस द्वारा उल्लेखित यह सम्प्रदाय इस प्रकार है—

(१) पाशुपत, महाव्रतवाद (?) कापालिक, वाम, भैरव और एक्यवाद।

(२) ऊर्ध्व शैव अनादिशैव, आदिशैव, महाशैव, भेदशैव, अभेदशैव, अन्तरशैव, गुणशैव, निर्गुणशैव, अध्वनशैव, योगशैव, ज्ञानशैव, अनुशैव, क्रियाशैव, नालुपादशैव (?) और शुद्धशैव।

हमें इसका ज्ञान नहीं है कि शैवमत के इन विभिन्न सम्प्रदायों के क्या विषय थे। शैवमत के इन सम्प्रदायों में से किसी के विचारों का उल्लेख करने वाला कोई भी विशेष मूलग्रंथ हमें नहीं मिलता। अपनी व्याख्या में हमने विभिन्न प्रकार के शैवमतों का उल्लेख किया है तथा उनमें से अनेक पाशुपत शैवमत के नाम से जाने जाते हैं परन्तु प्रकाशित अथवा अप्रकाशित निश्चित सामग्री के अभाव में हमारे लिए यह निश्चय करना असम्भव है कि यह पाशुपत प्रणाली भी विभिन्न नामों के विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित थी।

[1] देखिए पद्य ४५-५६ (७.१.३२)।

महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि, पतंजलि के योग में मन को पहले स्थूल पदार्थों पर, तत्पश्चात् तनमात्र, तदुपरांत अहंकार तथा उसके बाद बुद्धि पर केन्द्रित करना पड़ता है जबकि शैवयोग में योगी को शिव के दैवीस्वरूप का चिन्तन करना पड़ता है। योगशास्त्र में भी यह निर्धारित है कि मनुष्य ईश्वर का चिंतन कर सकता है तथा उसके प्रति भक्ति द्वारा किसी भी योगी को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। योगशास्त्र में योगी के लिए दो प्रकार के मार्ग हैं—प्रथम ईश्वर का चिंतन तथा द्वितीय, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों की ओर निरंतर अग्रसर होता हुआ चिंतन जिसके फलस्वरूप बुद्धि समस्त भौतिक प्रवृत्तियों तथा प्रभावों से सर्वथा रहित हो जाती है तथा अन्त में स्वयं प्रकृति में लुप्त हो जाती है और वहाँ से पुरावर्तन नहीं होता। अतः पतंजलि के योग में सांख्यसिद्धांत व सांख्यतत्व दर्शन का समन्वय बौद्ध मतानुयायी पूर्व प्रचलित योग प्रणाली के साथ करने का प्रयास परिलक्षित होता है तथा 'ईश्वर' सिद्धांत वाले आस्तिक पंथ को भी समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है जिसका योग-प्रणाली के साथ, येन-केन-प्रकारेण मोटे रूप में सामंजस्य बिठलाया गया है।

शिवमहापुराण आगे प्राणायाम का वर्णन करता है, जो इस प्रकार है:—पूरक जिसमें नासिका से वायु लेकर समस्त शरीर में भरते हैं। रेचक, जिसमें वायु शरीर से निकालते हैं तथा कुम्भक, जिस प्रक्रिया में शरीर में वायु भरने के पश्चात् उसे स्थिर रखते हैं। प्राणायाम की प्रक्रिया से मनुष्य शरीर का इच्छानुसार त्याग कर सकता है।

प्राणायाम का विकास शनैः-शनैः श्वास प्रश्वास के समय को बढ़ाने से होता है। इस प्रकार प्राणायाम के चार स्तर हैं जिन्हें कन्यक, मध्यम, उत्तम तथा पर कहते हैं। संवेगात्मक भाव आनन्द की अभिव्यक्ति के कारण कम्प, स्वेद प्रकट होते हैं। इसी कारण कभी उन्मुक्त अश्रुप्रवाह तथा कभी-कभी असंगत वाणी या स्वरभंग तथा मूर्च्छा तक आ जाती है। यह ध्यान देने की बात है कि ऐसी अवस्थाएँ पतंजलि के योग में न तो वर्णित हैं और न आवश्यक हैं। इसी संदर्भ में प्राणायाम का विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा पाँच प्रकार की वायु शक्तियों के विषय में बतलाया गया है जिन्हें प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान कहा गया है। प्राणवायु में पाँच प्रकार की वायु सम्मिलित हैं जिन्हें नाग, कूर्म, कूकर, देवदत्त तथा धनंजय कहा गया है जो प्राणवायु के विभिन्न कार्यों का संपादन करती हैं। अपानवायु वह शक्ति है जिसके द्वारा जो कुछ भी खाद्य तथा पेय के रूप में लिया जाता है उस सबका परिपाक हो जाता है तथा वह नीचे के भागों में चला जाता है। व्यान वह शक्ति है जो समस्त शरीर में व्याप्त है तथा इसका विकास करती है। उदान वह है जो जैविक ग्रन्थियों तथा शरीर को प्रभावित करती है। समान वह है जो शरीर को रक्तप्रवाह प्रदत्त करता है। जब योगी के संकल्प के अनुसार इन वायुओं की शक्ति तथा कार्यों का उचित समन्वय हो जाता है, तब वह शरीर के सभी दोषों तथा व्याधियों को समाप्त करने में सफल हो जाता है, और अपने स्वास्थ्य की उचित रीति से रक्षा करता है। उसकी परिपाक

शक्ति की वृद्धि हो जाती है एवं परिश्रम कम हो जाता है। उसका शरीर हल्का हो जाता है। शीघ्रता से चल फिर सकता है, उसमें शक्ति आ जाती है तथा उसकी वाणी में श्रेष्ठता आ जाती है। वह किसी रोग से पीड़ित नहीं होता तथा पर्याप्त रूप में उसे शक्ति तथा ओजस्विता प्राप्त हो जाती है। उसे धारण, स्मरण, उपयोगिता, स्थिरता तथा संतुष्टि की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वह संयास व्रतादि ले सकता है। अपने पाप नष्ट कर सकता है, यज्ञ कर सकता है तथा दान दे सकता है जैसाकि मनुष्यों के लिए विहित है।

प्रत्याहार मन का वह नियंत्रण है जिसमें इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले विषयों से बुद्धि को विरत करने का प्रयास किया जाता है। जिसे सुख की कामना हो, उसे निवृत्ति के गुण का अभ्यास करना चाहिए तथा सत्य ज्ञान को प्राप्त करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करने से मनुष्य अपने को ऊपर उठा सकता है। जब इस प्रकार बुद्धि को किसी विषय पर स्थिरतापूर्वक अवहित किया जा सके, तब वह धारणा की स्थिति होती है। शिव के अतिरिक्त ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर बुद्धि को स्थिरतापूर्वक अनुरक्त किया जाय। धारणा की उचित अवस्था में बुद्धि को उसके विषय, शिव से एक क्षण के लिए भी पृथक् नहीं करना चाहिए। बुद्धि की स्थिरता से धारणा अग्रसर हो सकती है अतः धारणा के निरंतर अभ्यास से बुद्धि को दृढ़ तथा स्थिर बना लेना चाहिए। ध्यान शब्द 'ध्यै' धातु से निकलता है, जिसका अर्थ बाधारहित बुद्धि से शिव का चिंतन है। अतः इस अवस्था को ध्यान कहा गया है। जब मनुष्य ध्यानावस्था में होता है तब उसके चिंतन के विषय की, किसी अन्य विचार के संयोजन के बिना, निरंतर एक ही रूप में आवृत्ति होती रहती है। एक ही प्रकार के प्रत्यय अथवा विचार के निरंतर प्रवाह को ध्यान कहते हैं।[1] यह स्मरण रखना है कि मनुष्य को तप अथवा नाम का भजन अथवा मंत्रों का उच्चारण करके ध्यानावस्था में चले जाना चाहिए तथा जब ध्यान टूटे तब तप करते रहना चाहिए, तथा उससे फिर ध्यानावस्था में चले जाना चाहिए जब तक कि योग पूर्णतः प्राप्त नहीं हो जाता। समाधि योग की अन्तिम अवस्था है जिसमें बुद्धि प्रज्ञा के प्रकाश से आलोकित होती जाती है। प्रज्ञा लोक वह अवस्था है जिसमें यथार्थ में अन्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता तथा जहाँ केवल समाधि में ध्येयविषय असीम शांत सागर के समान प्रज्वलित होता है।[2] बुद्धि को चिंतन के विषय पर केन्द्रित करने पर,

---

[1] ध्येयावस्थित-चित्तस्य सदृशः प्रत्ययश्च यः,
प्रत्ययांतर-निर्मुक्तः प्रवाहो ध्यानमुच्यते,
सर्वम् अन्यत् परित्यज्य शिव एव शिवंकरः। —शिवमहापुराण, ७-२-३७(५२-३)

[2] समाधिना च सर्वत्र प्रज्ञालोकः प्रवर्तते,
यदर्थ-मात्र-निर्भासं स्तिमितोदधि-वत्-स्थितम्,
स्वरूप-शून्यवद् भानं समाधिरभिधीयते। —तत्रैव, ७-२-३७ (६१-२)।

साधक, बुझती हुई अग्नि के समान दृष्टिगोचर होता है, वह न कुछ श्रवण करता है, न सूंघता है, न कुछ स्पर्श करता है और न उसकी वुद्धि विचार करती है। उसे कुछ वोध नहीं होता, वह तो लकड़ी के टुकड़े के समान है। अतः जब मनुष्य की आत्मा शिव में लीन हो जाती है तब उसे समाधि की अवस्था कहते हैं। वह उस दीपक के समान है जिसकी शिखा स्थिरता से प्रज्वलित रहती है। समाधि की इस अवस्था को साधक कभी नहीं तोड़ता।

किन्तु यह ध्यान देना होगा कि योगाभ्यास के पथ में अनेक वाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। इनमें से कुछ ये हैं:—

आलस्य, कष्टप्रद रोग, प्रमाद, चिंतन के विषय के वारे में संशय, बुद्धि की अस्थिरता, श्रद्धा का अभाव, काल्पनिक धारणाएँ, पीड़ा, निराशा तथा विषयों पर आसक्ति। आलस्य का अर्थ शारीरिक तथा मानसिक दोनों के आलस्य से है। रोग निश्चय ही तीन धातुओं अर्थात् वात, पित्त तथा कफ में वाधा उपस्थित होने से होते हैं। प्रमाद योग के संपादन के साधनों के सही तरह प्रयोग में न लाने से उत्पन्न होता है। चिंतन के यथार्थ विषय का संशयपूर्ण अन्वेषण-स्थान संशय कहलाता है। श्रद्धा के अभाव का अर्थ है उपयुक्त भावना के विना भी योग प्रक्रिया को चलाते रहना। समस्त दुःख तीन प्रकार के होते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। निराशा व्यक्ति की कामनाओं के व्याघात से उत्पन्न होती है तथा दौर्मनस्य नामक मानसिक कष्ट का कारण है। जब बुद्धि, कामना के विभिन्न विषयों की ओर आकर्षित होती है, तब इसे स्फुरण की अवस्था कहते हैं। जब इन वाधाओं पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तब अन्य वाधाएँ अलौकिक शक्तियों के प्रकट होने के मार्ग में आकर उपस्थित हो जाती हैं।

पाशुपत-योग में 'योग' शब्द का प्रयोग, 'युजिर योगे' धातु से माना गया है, न कि मूल 'युज् समाधौ' से, जैसाकि पतंजलि के योग में किया गया है। चिंतन, चिंतन के विषय तथा चिंतन के उद्देश्य के पूर्ण ज्ञान से ही यथार्थ योग उदित होता है। शिव के चिंतन के समय व्यक्ति को शिव की शक्ति का भी चिंतन करना चाहिए, क्योंकि समस्त संसार उन दोनों से व्याप्त है।

उन चमत्कारिक शक्तियों में से, जो योग की उन्नति के मार्ग में वाधा समझी गई हैं, प्रतिभा भी एक है, जो सूक्ष्म पदार्थों, भूतकालिक वस्तुओं, हमारे नेत्रों से दुर्वोध वस्तुओं तथा भविष्य में आने वाली वस्तुओं की ज्ञान-शक्ति है। न्याय मंजरी में जयंत ने प्रतिभा शब्द का उल्लेख सर्वथा भिन्न अर्थ में किया है। उनका वहाँ प्रतिभा से अर्थ भविष्य में घटित होने के ज्ञान की अस्पष्ट अनुभूति से है, उदाहरणार्थ 'कल मेरे भ्राता आएँगे।' विना प्रयत्न समस्त प्रकार के नादों के वोध की शक्ति, संसार में किसी भी प्राणी द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जाय उसे समझने की शक्ति तथा दिव्य दृष्टि की शक्तियाँ इसमें सम्मिलित हैं। अतः इन अद्भुत शक्तियों द्वारा मनुष्य दिव्य सुख तथा उच्चकोटि

के स्पर्श एवं घ्राण के उत्कृष्ट सुख प्राप्त कर सकता है। अतः मनुष्य समस्त प्रकार की अद्भुत शक्तियां प्राप्त कर सकता है, तथा उनका उन समस्त वस्तुओं पर पूर्ण अधिकार हो जाता है, जिनकी उसे कामना हो। विभिन्न प्रकार की ऐसी अद्भुत शक्तियों को और अधिक स्पष्ट करना अनावश्यक है, जिन्हें योगी प्राप्त कर सकता है किन्तु जो उसे उसके महायोग अर्थात् शिव से ऐक्य के उन्नत मार्ग से विमुख कर सकती है।

परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाशुपत योग के उसी अध्याय में कुछ ऐसी विधियाँ प्रस्तुत की गई हैं, जो पातंजल-योग में नहीं मिलती हैं। अतः ७-२-३८ में योग के एक विशेष आसन के वर्णन में मनुष्य को नासिका के छोर पर ध्यान केन्द्रित करने तथा इधर-उधर न देखने का परामर्श दिया गया है। मनुष्य पाषाण के समान स्थिर होकर बैठ जाता है तथा शिव व शक्ति का ध्यान अपने आप में करने का प्रयत्न करता है, मानों वे उसके हृदय में स्थापित हों तथा उसको अपने साथ तादात्म्य का चिंतन करता है। मनुष्य अपनी नाभि, गला, तालु तथा भोहों के बीच के स्थान पर भी ध्यान केन्द्रित कर सकता है। मनुष्य को एक ऐसे कमल का जिसमें दो, छः, दस, बारह अथवा सोलह पंखुड़ियाँ हों, अथवा एक प्रकार के चतुर्भुज का ध्यान करना चाहिए जिसमें मनुष्य शिव को स्थापित कर सके। भोहों के बीच के स्थान के कमल की दो पंखुड़ियाँ विद्युत् के समान उज्जवल हैं। इसी प्रकार उन अन्य कमलों में जिनमें अधिक पंखुड़ियाँ होती हैं, उनमें नीचे से ऊपर की ओर प्रत्येक पंखुड़ियों के साथ स्वर प्रतीक रूप में संयोजित होते हैं। 'क' से प्रारम्भ तथा 'ट' से अंत होने वाले व्यंजन अक्षर भी कमल से प्रतीक रूप में संयोजित माने जाते हैं तथा उन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। एक प्रकार की दुर्बोध विधि से भिन्न-भिन्न व्यंजन अक्षर काल्पनिक कमलों की भिन्न-भिन्न पंखुड़ियों के प्रतीक रूप में संयोजित माने जाते हैं तथा मनुष्य को स्थिरता से पंखुड़ियों के अक्षरों के प्रतीक रूप में शिव तथा शक्ति का चिंतन करना चाहिए।

योग-मार्ग पर अग्रसर होने हेतु, शैव-धर्म-ग्रंथों में उल्लेखित शिव प्रतिमाओं का ध्यान भी आवश्यक है जैसे शिव की भिन्न-भिन्न स्थूल प्रतिमाओं का दर्शन और ध्यान।

ध्यान पहले किसी पदार्थ पर से आरम्भ होना चाहिए, तत्पश्चात् यह पदार्थरहित हो जाता है। परन्तु बुद्धिवादियों का कहना है कि ध्यान की पदार्थरहित स्थिति कभी हो ही नहीं सकती। अतः यह कहा जाता है कि ध्यान में बौद्धिक विस्तार होता है।[1]

---

[1] तत्र निर्विषयं ध्यानं नास्तीत्येव सतां मतम्,
बुद्धेर्हि सन्तिः काचिद् ध्यानमित्यभिधीयते।

—शिव-महापुराण, ७. २. ३९. ५.।

इसी कारण ध्यान की अवस्था में केवल बुद्धि का प्रवाह होता है, और उसे प्रायः निर्विषय माना जाता है। अतः जिसे निर्विषय ध्यान कहते हैं, वह केवल सूक्ष्म तत्वों पर चिंतन है। यह भी प्रायः कहा जाता है कि जब शिव के किसी विशेष आकार पर चिंतन होता है तब उसे सविषय कहते हैं, तथा जब यह आत्मज्ञान के विस्तार के रूप में निराकार अवस्था में होता है, तब इसे निर्विषय कहते हैं, इस विषय ध्यान को सबीज भी कहते है तथा निर्विषय ध्यान निर्बीज कहलाता है। प्राणायाम तथा ध्यान के फल-स्वरूप बुद्धि पारदर्शक हो जाती है तथा शिव के विचार का निरंतर स्मरण होता रहता है। जैसा हमने पहले कहा है, ध्यान का अर्थ शिव के आकार के निरंतर प्रवाह के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[1] बुद्धि का यह निरंतर प्रवाह ही ध्यान का विषय माना जाता है। आनन्द तथा मोक्ष दोनों ध्यान से उत्पन्न होते हैं, इसी कारण मनुष्य को सदैव ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान से अधिक उच्च कुछ भी नहीं है।[2] जो ध्यान करते हैं वे शिव के प्रिय हैं न कि वे जो केवल कर्मकांड करते हैं।

---

[1] बुद्धि-प्रवाह-रूपस्य ध्यानस्यास्यावलम्बनम्,
ध्येयमित्युच्यते सद्‌भिस्तच्च साम्बः स्वयं शिवः।

—शिव-महापुराण, ७. २. ३९. १९.।

[2] नास्ति ध्यानसमं तीर्थं नास्ति ध्यानसमं तपः
नास्ति ध्यानसमो यज्ञस्तस्माद् ध्यानं समाचरेत्।

—वही, २. ३९. २८.।

अध्याय ३८

शैव-दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ

पाशुपत सूत्रों का सिद्धांत

शैवमत की पाशुपत-प्रणाली के कुछ दार्शनिक सिद्धांतों का सम्बन्धित खंडों में विवरण किया गया है। परन्तु प्रणाली के आचार सम्बन्धी तथा कर्म-कांड सम्बन्धी पक्षों के प्रामाणिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है, जिनका प्रायः अन्य स्थानों में, उदाहरणार्थ, सर्वदर्शन-संग्रह की शैवमत की व्याख्या में, उल्लेख किया गया है। यह पाशुपत-सूत्रों में जिन पर कौंडिण्य का भाष्य है मिलती है, जिसका प्रकाशन १९४० में त्रिवेन्द्रम के ट्रेवन कोर विश्वविद्यालय के प्राच्य हस्तलेख पुस्तकालय द्वारा हुआ था। यह कहा जाता है कि शिव ने नकुलीश के रूप में अवतार लिया था, अतः वे पाशुपत-सूत्रों के निर्माता थे। कौंडिण्य का भाष्य भी बहुत प्राचीन है जैसाकि इसकी लेखन-पद्धति से निर्धारित किया जा सकता है। पाशुपत-सूत्रों के संपादक ए० शास्त्री का विचार है कि कौंडिण्य चौथी तथा छठी शताब्दी के मध्य वर्तमान हो सकते हैं। कौंडिण्य के भाष्य के साथ पाशुपत-सूत्र हमें शैवमत का कोई दर्शन नहीं देते हैं। वह लगभग पूर्णतया कर्मकांडों अथवा जीवन के आचार की व्याख्या करते हैं। यह भी बहुत सम्भव है कि जीवन के ऐसे वैराग्याचार प्राचीनकाल से ही प्रचलित हों, तथा शैवमत का दर्शन इनके साथ बाद में जोड़ दिया गया हो। यद्यपि जीवन के ऐसे वैराग्य आचारों का बाद में प्रतिपादित शैव-दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि सामान्य मानव-शास्त्रीय दृष्टि से तथा धार्मिक दृष्टि से वे रुचिकर अध्ययन का विषय हो सकते हैं क्योंकि वैराग्य के यह आचार उन मनुष्यों के जीवन से सम्बन्धित हैं, जो शैव-दर्शन में विश्वास करते हैं। माधव के सर्व-दर्शन-संग्रह में पाशुपत-प्रणाली को दर्शन की किसी पद्धति के रूप में नहीं वरन् विभिन्न प्रकारों की वैराग्य-साधना के रूप में वर्णित किया गया है। जब शंकराचार्य शैव-प्रणाली का खंडन करते हैं, तब वह उसे विस्तृत रूप के किसी दार्शनिक सिद्धांत के रूप में विशेषतः उल्लिखित नहीं करते। वे शैवों को 'ईश्वरकारणी' कहते हैं, जो ईश्वर को संसार का सृष्टा मानते हैं। निःसंदेह नैयायिक भी ईश्वरकारणिन हैं, तथा वे भी इस तरह शैव ही हुए। नैयायिकों के अन्य सिद्धांत मुख्यतः वैशेषिक से लिए गए हैं, तथा शंकर ने न्याय-वैशेषिक की अपनी सम्मिलित आलोचना में उनका उल्लेख किया है। अतः जहाँ तक धार्मिक मान्यता का प्रश्न है नैयायिकों का पंथ शैवों के समान ही है। परन्तु जहाँ

पाशुपत-सम्प्रदाय के शैव, वैराग्य के कर्मकांडों को प्रमुखता देते हैं, वहाँ नैयायिक तार्किक शास्त्रार्थ को प्रमुखता देते हैं। अतः यदि यहां पाशुपत-पंथ के वैराग्य-पक्ष की सामान्य रूपरेखा का विवेचन किया जाए तो वह अप्रासंगिक नहीं होगा, यद्यपि यह दार्शनिक सिद्धांतों की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं माना जाएगा।

टीकार कौंडिण्य ने अपने भाष्य के आरम्भ में, उस पाशुपति की स्तुति से मंगलाचरण किया है जिसने ब्रह्मा से आरम्भ कर सम्पूर्ण संसार की सृष्टि सबके शुभ के लिए की है। उनके अनुसार पाशुपत-प्रणाली में तर्क के पांच विषय-कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुखांत हैं।[1]

पाशुपत-प्रणाली का उपदेश सब प्रकार के दुःखों के संपूर्ण विनाश के लिए है, तथा यह उपदेश केवल अधिकारी शिष्यों को ही दिया जा सकता है। जब प्रभु द्वारा निर्धारित वैराग्य के आचारों का शिष्य अनुसरण करता है, तब वह उसके (प्रभु को) अनुग्रह द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। यह पहले स्पष्ट किया गया है कि शिव महाकारुणिक कहलाते हैं। शैव विचार का स्पष्टीकरण करते हुए हमने करुणा के सिद्धांत का पूर्ण परीक्षण किया है, तथा यह भी देखा है कि अनुग्रह का यह सिद्धांत कर्म सिद्धांत तथा पुनर्जन्म सिद्धांत से सम्बन्धित है, जो कर्म सिद्धांत में निहित न्याय की धारणा के अनुरूप है। परन्तु पाशुपत-सूत्र में हमें यह बताया गया है कि मोक्ष शिव के अनुग्रह से प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। 'पशु' शब्द का अर्थ संतों तथा समस्त शक्तिमानों के अलावा समस्त चेतन प्राणियों से है। उनका पशुत्व इस तथ्य में निहित है कि वे निर्बल हैं तथा उनकी निर्बलता उनका बंधन है। यह बंधन, अर्थात् उनकी कारण शक्ति पर संपूर्ण निर्भरता अनादि है। 'पशु' शब्द 'पाश' से सम्बन्धित है जिसका अर्थ 'कारण तथा कार्य' है तथा जो शास्त्रीय भाषा में 'कला' कहलाता है। इस प्रकार समस्त पशु कारण व कार्य, ऐन्द्रिय पदार्थों एवं उनके विषय से बंधे हैं तथा उनसे अनुरक्त हो जाते हैं। 'पशु' शब्द 'पश्यति' से निकला है। यद्यपि समस्त पशु सर्वव्यापक तथा शुद्ध चेतन स्वरूप हैं, तथापि वे केवल अपने शरीरों का ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं, उन्हें कारण तथा कार्य के स्वरूप का बोध नहीं है, तथा वे उनके परे नहीं जा सकते। पशुपति का अर्थ यह है कि वह सब जीवों की रक्षा करता है। कौंडिण्य निश्चयपूर्वक कहते है कि दुःखों से मुक्ति

---

[1] पाशुपत-सूत्रों के संपादक नकुलीश से आरम्भ कर गुरुओं की निम्नलिखित सूची देते हैं—नकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्रेय, कौरूश, ईशान, परगार्ग्य, कपिलानन्द, मनुष्यक, कुशिक, अत्रि, पिंगल, पुष्पक, वृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशिकर (कौंडिण्य) तथा विद्यागुरु। सत्रहवें गुरु राशिकर को संपादक ने कौंडिन्य माना है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि वृहदारण्यक उपनिषद् ६.२.४ में कौंडिण्य गोत्र के नाम के रूप में आता है।

केवल ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य एवं त्याग के द्वारा नहीं वरन् केवल प्रसाद से ही प्राप्त हो सकती है।[1]

शैवानुशासन ग्रहण करने का अधिकारी तीक्ष्ण-बुद्धि वाला ब्राह्मण होता है। भक्ति सम्बन्धी आचारों की ओर प्रवृत्त करने वाला शिव बनने की कामना उत्पन्न करता हुआ गुरु-उपदेश, उदारता और अनुग्रह की भावना से उन्हें दिया जाता है, जो समस्त दुःखों के विनाश की कामना करते हैं।

'योग' शब्द का प्रयोग आत्मा का ईश्वर से संयोग निर्देशित करने के लिए किया गया है (आत्मेश्वर संयोग योगः)। इस प्रकार संयोग का अर्थ है कि जो मनुष्य अन्यथा संलग्न था, वह अपने को ईश्वर के श्रेष्ठ विषय की ओर अग्रसर करता है, अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि ईश्वर तथा मनुष्य दोनों का एक-दूसरे से सम्पर्क होता है, जब तक वे पूर्णतः मिल न जांय। सांसारिक पदार्थों से विरक्ति होना योग की प्रथम आवश्यकता है।

योग की प्राप्ति केवल ज्ञान द्वारा नहीं हो सकती, बल्कि मनुष्य को योग-विधि नामक एक निश्चित प्रकार के कर्म का पथ ग्रहण करना पड़ता है। विधि का अर्थ कर्म है। इस प्रकार हमारे पास सुख व दुखः के विनाश के रूप में कार्य, कारण, योग तथा विधि एवं पाँच तत्व हैं जो पाशुपत शास्त्र के विचार-विमर्श के विषय हैं।

प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन करते हुए कौंडिण्य इंद्रिय-प्रत्यक्ष तथा आत्म-प्रत्यक्ष में भेद करते हैं। इंद्रियों द्वारा मनुष्य विभिन्न प्रकार के ऐन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकता है। जैसेकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध तथा वे पदार्थ जिनमें ये स्थित हैं। वास्तव में बहुत से प्रत्यक्ष इंद्रिय पदार्थ के संनिकर्ष द्वारा होते हैं तथा अपनी संपूर्णता में ऐसे संपर्क द्वारा अनेक पक्षों में अभिव्यक्त होते हैं और प्रमाण माने जाते हैं। आत्म-प्रत्यक्ष का अर्थ, सम्बन्ध की वह संपूर्णता है, जो चित्त, अन्तःकरण, मन तथा बुद्धि द्वारा उत्पन्न होती है। अनुमान स्वाभाविक रूप से प्रत्यक्षीकरण पर आधारित हैं। मन, बुद्धि तथा आत्मा का सम्बन्ध अपने को अनेक रूपों में व्यक्त करता है और संस्कार तथा स्मृतियाँ उत्पन्न करता है। यह अन्य प्रकार के ज्ञान अथवा उनसे अनुमित होने वाले ज्ञान चेतनाओं की ओर प्रवृत्त करता है।

अनुमान, दृष्ट (प्रत्यक्षीकृत) तथा सामान्यतोदृष्ट (सामान्यों द्वारा प्रत्यक्षीकृत) दो प्रकार का होता है। दृष्ट अनुमान दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् तथा शेषवत्।

---

[1] तस्मात्प्रसादात् स दुखान्तः प्राप्यते। न तु ज्ञान-वैराग्य-धर्मे श्वर्य-त्याग-मात्रादित्यर्थः।
—पाशुपत-सूत्र (टीका, पृ० ६।

पूर्ववत् वह है जो पूर्व अनुभवों से सम्बन्धित है। इसके छः अंगुलियाँ देखी गई थीं तथा अब भी हमें इसके छः अंगुलियाँ दिखती हैं, अतः यह वही है जो पहले था। यह पूर्ववत् दृष्टानुमान है। जबकि एक पशु को उसके सींगों तथा लटकती हुई अयाल के प्रमाण पर गाय के रूप में पहचानते हैं, तब उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं। शेषवत् अनुमान का उद्देश्य एक जाति की वस्तुओं का दूसरों से भेद करना है। सामान्यतो दृष्ट (सामान्यों द्वारा प्रत्यक्षीकरण) के उदाहरण के लिए यह कहा जाता है कि क्योंकि एक पदार्थ की स्थिति अनेक स्थानों पर नहीं हो सकती अतः मनुष्य यह अनुमान कर सकता है कि चंद्रमा तथा तारे जो स्थान परिवर्तन करते हैं—आकाश में घूम रहे हैं। आगम अथवा शब्द-प्रमाण वह शास्त्र-प्रमाण है जो हमें महेश्वर से उनके शिष्यों द्वारा प्राप्त हुआ है। पाशुपत-सूत्र केवल प्रत्यक्षीकरण, अनुमान तथा शब्द-प्रमाण स्वीकार करता है, अन्य प्रकार के प्रमाण इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं।

प्रमाणों द्वारा पदार्थों की सिद्धि प्रत्यक्ष करने वाले दृष्टा के लिए की जाती है। प्रमाणों के विषय पाँच प्रकार के तत्व हैं, कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःख का विनाश चेतना अथवा विचार-उत्पत्ति संविद, संचिंतन अथवा संबोध कहलाते हैं। इन्हीं के द्वारा ज्ञान प्रकट होता है। प्रारंभ के प्रथम क्षण से ज्ञान की पूर्ति तक ज्ञान की प्रक्रिया चलती रहती है।

आचारों के विषय में यह कहा गया है कि मनुष्य को भस्म संगृहीत करनी चाहिए तैयार करनी चाहिए तथा शरीर पर प्रातःकाल, मध्याह्न तथा तीसरे पहर इस भस्म का लेप करना चाहिए। किन्तु यथार्थ स्नान, सद्गुणों की प्राप्ति द्वारा ही होता है, जिससे आत्मा शुद्ध हो जाती है। मनुष्य को भस्म पर लेटना भी चाहिए किन्तु जागते रहना चाहिए क्योंकि जिस व्यक्ति को जन्म व पुनर्जन्म के चक्र से भय है उसके पास निद्रा के लिए समय नहीं हो सकता। शुद्धि के लिए तथा शैव चिह्न धारण करने की दृष्टि से जल के स्थान पर भस्म का प्रयोग होना चाहिए। अतः भस्म लिंग कहलाती है अर्थात् पाशुपत-वैरागी का चिह्न। यहाँ हमें ध्यान देना होगा कि लिंग शब्द, जो शैव सिद्धांत के सम्बन्ध में प्रायः लिंग-पूजन सम्बन्धी चिह्न के लिए प्रयोग होता है, यहाँ पर मनुष्य को केवल पाशुपत-वैरागी सूचित करने वाले चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जिस भस्म से शरीर पर लेप होता है वह मनुष्य को पाशुपत-वैरागी के रूप में दर्शाती है। अतः भस्म न लिंग मानी जाती है। यह भस्म पाशुपत वैरागी को अन्य पंथों के अनुयायियों से पृथक् करती है।

पाशुपत योगी ग्राम, जंगल अथवा किसी तीर्थ-स्थान में रह सकता है, तथा वहाँ वह अपने को ओम शब्द के उच्चारण, हँसने, गाने, नृत्य करने तथा अपने मुंह व होठों से विशेष प्रकार की ध्वनियाँ निकालने में संलग्न कर सकता है। नैतिक गुणों को प्रदान करने वाले तथ्यों में अत्यधिक प्रमुखता यमों को दी गई है, जिनमें अहिंसा, ब्रह्मचर्य,

सत्य तथा अपरिग्रह सम्मिलित है। इनके पश्चात् नियम है जिनमें अक्रोध, गुरु-सेवा, शुद्धता, हल्का भोजन तथा अप्रमाद सम्मिलित हैं। यम तथा नियम में से यम अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। जैनियों की तरह अहिंसा को अत्यधिक प्रमुखता दी गई है तथा वह सर्वोत्तम मानी गई है। वास्तव में ब्रह्मचर्य का अर्थ सब प्रकार के इंद्रिय-नियंत्रण से है, विशेषकर स्वाद तथा प्रजनन के इन्द्रियों के नियमन से। स्त्रियों से सम्बन्ध का बहुत तिरस्कार किया गया है। सत्य में सच बोलना भी शामिल है तथा उसकी प्रशंसा भी की गई है किन्तु सत्य का वास्तविक मापदंड यही माना गया है कि उसके बोलने से अधिकाधिक जन-कल्याण होना चाहिए। अशुद्ध कथन अथवा मिथ्या कथन भी यदि समस्त जीवों के लाभ के लिए हैं, तब उसे कठोर सत्य कथन से श्रेष्ठ मानना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि पाशुपत-प्रणाली समस्त प्रकार के वाणिज्य कर्म तथा व्यापार का निषेध करती है, क्योंकि इनसे परस्पर व्यवहार करने वाले व्यक्तियों को कष्ट पहुँच सकता है। ऊपर अक्रोध की गणना, सद्गुण के रूप में की गई है। इसके अन्तर्गत ईर्ष्या, शत्रुता, दर्प एवं मनुष्य के मन में दूसरों के अशुभ की कामना, इत्यादि सभी बातों से पूर्णतः उदासीनता सम्मिलित है। साथ ही इनके अनु-रूप किया गया कोई भी कर्म, अक्रोध में ही शामिल माना जाता है। पाशुपत योगी को भिक्षावृत्ति से अपना जीवन-यापन करना पड़ता है।

ऊपर यह कहा गया है कि पाशुपत वैरागी को ब्राह्मण होना चाहिए। विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त उसके लिए स्त्रियों तथा शूद्रों से सम्भाषण का निषेध है। ऐसी विशेष परिस्थितियों के आ जाने पर उसे अपनी शुद्धि भस्म स्नान, प्राणायाम, रौद्री गायत्री के उच्चारण द्वारा करनी चाहिए। यदि किसी को स्त्री अथवा शूद्र से मिलकर उससे सम्भाषण करना पड़ता है, तब उसके लिए प्राणायाम आदि का निर्धारण वैरागी की शुद्धि के लिए किया गया है, क्योंकि अन्यथा उनसे मिलने के लिए विवश होने पर वैरागी की बुद्धि में क्रोध उत्पन्न हो सकता है, तथा उससे उसकी स्वयं की बुद्धि को आघात पहुँच सकता है।

जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है तथा मनुष्य परम प्रभु महेश्वर के साथ योग-मार्ग पर अग्रसर होता है तब मनुष्य को अनेक अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[1]

महेश्वर जो ब्रह्मन् भी माने जाते हैं, अनादि तथा अविनाशी हैं, वे अजन्मा हैं तथा सब प्रकार के रोगों से रहित हैं। जब मनुष्य को उनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब मनुष्य को उनमें शरण लेनी चाहिए तथा उनके द्वारा शास्त्रों में वर्णित आचारों का अनुसरण करना चाहिए।

---

[1] देखिए पाशुपत सूत्र १,२१-३७।

महेश्वर अपने लीलामय स्वरूप से समस्त पदार्थों की सृष्टि तथा संहार करने वाले बतलाए गए हैं। ईश्वर महान् है क्योंकि वह समस्त जीवों की गतियों तथा प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है। उसकी नित्यता उसके निरंतर ज्ञान तथा क्रिया में है, जिसके द्वारा वह सब में व्याप्त है। वह रुद्र कहलाता है क्योंकि वह सबको भय से संयोजित करता है।[1]

महाप्रभु स्वस्थित (अपने आप में स्थित) विश्व की सृष्टि, पालन तथा संहार करता है अर्थात् उसमें ही आकाश में तारों के समान विश्व प्रकट तथा लुप्त हो जाता है। ईश्वर अपनी संकल्प-शक्ति से संसार की सृष्टि करता है क्योंकि कार्य-रूप समस्त संसार उसके स्वयं के बल तथा शक्ति में अवस्थित है तथा उसकी शक्ति के कारण ही निरन्तर स्थित रहता है।

इस विषय के पुनः स्पष्टीकरण के लिए भाष्य (२-५) में यह कहा गया है कि महेश्वर का तत्व सर्व-व्यापक है तथा पुरुष, प्रधान आदि तत्व महत्तत्व के ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार, आत्मा का तत्व होने के कारण पुरुष तत्व भी सर्व-व्यापक है, तथा प्रधान आदि के चौबीस तत्व पुरुष द्वारा ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार तत्वों के क्षेत्र में भी, बुद्धि सर्वव्यापक है तथा अहंकार से प्रारम्भ होकर अन्य बाईस तत्व बुद्धि द्वारा ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार अहंकार भी सर्वव्यापक है तथा ग्यारह इन्द्रियाँ इसके द्वारा ओतप्रोत है, पुनः इसी प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ सर्वव्यापक हैं तथा सूक्ष्म पाँच तनमात्र उनके द्वारा प्रवेश करते हैं। इसी प्रकार स्थूल पदार्थो में भी आकाश, वायु तेजस आदि को इन्हीं प्रक्रियाओं से व्याख्यात किया जा सकता है।

कारण तथा कार्य के प्रारम्भिक मूल भेद के विषय में प्रश्न उठता है। भाष्य (२-५) के लेखक का कथन है कि इनका बोध हल्दी तथा जल के मिश्रण के सादृश्य से कराया जा सकता है, हल्दी के जल में एक ओर जल के गुण हैं तथा दूसरी ओर हल्दी के गुण। इस प्रकार जब महेश्वर समस्त जीवों को उनके दिए हुए सुखों, दुःखों तथा उन शरीरों जिनसे वह उन्हें सम्बन्धित करता है, संयोजित माना जाता है, तब हमें पूर्णता का ख्याल होता है। इस प्रकार ईश्वर प्रकृति के सुखों व दुःखों से संयोजित हो सकता है, यद्यपि वह स्वयं सर्वथा अपरिवर्तनशील है। इसी दृष्टान्त से प्रधान व प्रकृति के अन्य तत्वों का भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। सर्वव्याप्त होने के कारण परमेश्वर स्वाभाविक रूप से कारण तथा निमित्त अवस्था, दोनों में व्याप्त है। कारण से तदात्म होने के कारण कार्य नित्य है, कारण अर्थात् ईश्वर नित्य है तथा समस्त सृष्टि उसमें तथा उसके द्वारा होती है। इस प्रकार के तर्क से संसार नित्य हो जाता है, क्योंकि

---

[1] रुतस्य भयस्य द्रावणात् संयोजनाद् रुद्रः।

—पाशुपत-सूत्र २-४ (टीका)।

यदि रक्षक नित्य है, तब रक्षा की जाने वाली वस्तुएँ अवश्य नित्य होंगी। संसार के नित्य होने के कारण ईश्वर उसके विभिन्न विभागों को यथोचित क्रम में संयोजित करता है। विविध विभागों का उचित संयोजन करने में ईश्वर का अनुग्रह ही कारण है।

ईश्वर की संकल्प-शक्ति के सर्व-शक्तिमान् तथा निःसीम होने के कारण वह अपनी इच्छानुसार संसार तथा मनुष्यों के प्रारब्ध में परिवर्तन घटित कर सकता है। वह आवश्यक रूप से मनुष्य अथवा उसके कर्म पर निर्भर नहीं है।[1] ईश्वर का संकल्प विकास की प्रक्रिया के रूप में अथवा पदार्थों की अवस्था में बन्धन अथवा मुक्ति का प्रवेश कराते हुए हस्तक्षेप द्वारा कार्य कर सकता है। किन्तु ईश्वर के संकल्प के निष्पादन में एक सीमा यह है कि मुक्त आत्माएँ पुनः दुःख से संयोजित नहीं होती हैं। कार्य रूप संसार की सीमा यह है कि इसकी उत्पत्ति, सहायता तथा संहार अथवा परिवर्तन, कारण तत्व अर्थात् परमेश्वर द्वारा होता है। अतः यह कारण तथा कार्य का क्षेत्र है। जो समस्त दुःखों का अन्त करना चाहते है उन्हे स्वयं को किसी अन्य की नहीं, वरन् भगवान शिव की पूजा में संलग्न कर लेना चाहिए।

यह परामर्श दिया गया है कि पाशुपत योगी को अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति पर बहुत अधिक प्रसन्न नहीं होना चाहिए। तीर्थ-स्थान व मन्दिरों में तथा साधारण मनुष्यों के मध्य, दोनों ही स्थानों में उसे योगी के समान भस्म का लेप तथा मन्दहास आदि व्यवहार करते रहना चाहिए। यह चर्या कहलाते हैं। इस चर्या में योगी का आनन्द अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति के अभिमान के किसी रूप के साथ संयोजित नहीं, वरन् अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्त होना चाहिए।

आध्यात्मिक पूजा की प्रक्रिया केवल तब ही हो सकती है, जब मनुष्य अपने मन में अपने को महेश्वर को समर्पित करने की प्रक्रिया आरंभ कर दे तथा तब तक यह प्रक्रिया चलती रहे जब तक कि लक्ष्य प्राप्त न हो जाए। जब मनुष्य पूर्णरूप से अपने को केवल शिव को अर्पित कर देता है, तब वह मोक्ष की अवस्था से वापस नहीं आता। यही आत्मसमर्पण का रहस्य है।[2]

---

[1] कर्म-कामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते न तु भगवान् ईश्वरः कर्म पुरुषं वा पेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः।

—पाशुपत-सूत्र २-६ (टीका)।

[2] ऐकान्तिकात्यन्तिक-रुद्र-समीप-प्राप्तेरेएकान्तेनैव अनावृत्ति-फलत्वादसाधारण-फलत्वाच्चात्म-प्रदानमतिदानम्।

—वही, २-१५ (टीका)।

महेश्वर, जो वामदेव, ज्येष्ठ, रुद्र के नाम से जाना जाता है, काल भी कहलाता है। काल की प्रक्रिया में भिन्न प्रकार के सुख-दुःख पूर्ण अनुभवों के साथ भिन्न योनियों में भिन्न जीवों का भिन्न प्रकार के शरीरों से संयोजन कराना, उसके कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत है। जीव काल्य कहलाते हैं, क्योंकि वे ईश्वर अथवा काल में हैं। 'कला' शब्द कार्यों (काल्य) को तथा उनके निमित्तों (कारण) को दिया गया है। इस प्रकार पृथ्वी जल आदि पांच तत्व कार्य के रूप में कला कहलाते हैं। उनके गुणों को भी कला कहते हैं। अहंकार तथा बुद्धि के साथ ग्यारह इन्द्रियां कारण कहलाती हैं। स्वयं ईश्वर विकारण तथा इन्द्रियों से रहित है, अतः प्रत्यक्षीकरण तथा कार्य करने की उसकी शक्तियां असीम एवं निर्वाध है। यह ईश्वर ही है, जो समस्त पदार्थो तथा जीवों को काल्य तथा कारण के रूप में कलाओं से संयोजित करता है। परमेश्वर सकल तथा निष्कल, अंतर्वर्ती तथा अतीत माना जाता है, परन्तु उसके परात्पर पक्ष में भी उसमें वे समस्त शक्तियां हैं, जिनसे वह समस्त जीवों के लिए अपने अनुग्रह का विस्तार कर सकता है।

तृतीय अध्याय में यह कहा गया है कि यथार्थ शैव योगी को वाह्य आचारों का त्याग कर देना चाहिए जिससे कोई उसे शैव योगी के रूप में नहीं पहचाने तथा समाज में उच्च स्थान नहीं दे। जिन मनुष्यों के मध्य वह रहता है, जब वे उसका इस प्रकार प्रत्याख्यान करेंगे, तब उसका यही अपमान उसके पापों का नाश कर सकेगा। जब योगी अज्ञानी मनुष्यों द्वारा किए हुए अपमान सहता है, तब वह स्वाभाविक ही सहनशीलता प्राप्त करता है। मनुष्य प्रायः उसे एक उन्मत्त अथवा एक अज्ञानी मनुष्य या मंद बुद्धि आदि कुवचन कहेंगे, तथा ऐसी परिस्थितियों में उसे जनता के ध्यान से दूर हो जाना चाहिए तथा ईश्वर पर अपनी बुद्धि केन्द्रित करनी चाहिए। ऐसे व्यवहार से वह न केवल शुद्ध ही होगी, वरन् आध्यात्मिक रूप से महान् हो जाएगा। इस प्रकार जब एक मनुष्य नख, केश, तथा दाढ़ी लिए हुए, भस्म तथा धूल से लिप्त, एक दरिद्र उन्मत्त के समान घूमेगा तथा जब वह स्वच्छता के आचारों का अनुसरण नहीं करेगा, तब उसे स्वाभाविक रूप से वहिष्कृत माना जाएगा। यह उसको निवृत्ति के मार्ग में प्रवृत्त करेगा तथा अपमानों को नम्रता से सहना, उसे आध्यात्मिक रूप से उन्नत करेगा।

जब एक मनुष्य यम तथा नियम के अभ्यासों में स्थिर रहता है, तथा अन्य मनुष्यों द्वारा किए हुए तिरस्कार तथा दुर्वचन नम्रता से सहता है, तब वह वैराग्य के पथ पर भली प्रकार दृढ़ है।

पाशुपत-सूत्रों के संपूर्ण चतुर्थ अध्याय में पाशुपत-व्रत, आचार की उस प्रक्रिया के रूप में वर्णित है जिनमें योगी एक उन्मत्त, अज्ञानी, अपस्मार के रोगी, मूढ़, दुश्चरित्र आदि के समान व्यवहार करता है, जिससे अनभिज्ञ जनता द्वारा उस पर दुर्वचनों के ढेर

लग जाएँ। इससे उसमें समस्त सांसारिक यश, प्रतिष्ठा आदि के प्रति विरक्ति जाग्रत होगी, तथा वह तथ्य कि मनुष्यों ने उसे अनभिज्ञता में दुर्वचन कहे, उसे धर्म-पथ पर ऊंचा उठा देगा। जब इस क्रिया विधि तथा योग द्वारा मनुष्य परमेश्वर का सामीप्य प्राप्त कर लेता है, तब वह कभी पुन: वापस नहीं लौटता। प्राचीनकाल में भारत ने पाशुपत-व्रत धारण किया था यह माना गया है।

पंचम अध्याय में पाशुपत-योग की प्रक्रिया का अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। परमेश्वर का उल्लेख अनेक नामें से किया गया है। परन्तु वे सब एक ही परमेश्वर का उल्लेख करते हैं, तथा योग का अर्थ आत्मा का उससे स्थिर ऐक्य है। इस उद्देश्य के लिए मनुष्य को समस्त पदार्थों, भूत, वर्तमान तथा भविष्य से पूर्ण विरक्ति होनी चाहिए तथा महेश्वर से भावात्मक अनुराग होना चाहिए।[1] आत्मा का शिव से ऐक्य इतना अंतरंग होना चाहिए कि कोई भी भौतिक कोलाहल अथवा क्षोभ मनुष्य को दूर न ले जा सकें। प्रारम्भिक अवस्थाओं में बुद्धि को अन्य पदार्थों से हटा कर प्रभु पर स्थिर करने से शिव से अनुराग होता है, बाद में यह संयोजन सुस्थिर रहता है।

आत्मा की परिभाषा उस सत्ता के रूप में की गई है, जो समस्त इन्द्रिय ज्ञानों, समस्त कर्मो तथा पदार्थों के प्रति समस्त राग के लिए उत्तरदायी है। आत्मा का ईश्वर से स्थिर अथवा निरंतर संपर्क उसकी नित्यता का निर्माण करता है। सुख, दुख, इच्छा, द्वेष तथा चेतना के अनुभवों द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। आत्मा इस अर्थ में अजन्मा मानी जाती है कि संवेदनाओं की शृंखला तथा मानसिक क्रियाओं के साथ यह नवीन रूप से जन्म नहीं लेती, अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा सकता है कि यह अपने समस्त अनुभवों से गुजरते हुए भी उसी प्रकार बनी रहती है। यह मैत्र इस अर्थ में कहलाती है कि जब इसकी समस्त कामनाएँ-द्वेष तथा प्रयास का अन्त हो जाता हैं, तब यह चित्त-स्थिरता की अवस्था में रहती है तथा परमेश्वर से अनुरक्त रह सकती है।

उपर्युक्त विरक्ति की प्राप्ति केवल समस्त ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक इन्द्रियों, मनस, बुद्धि तथा अहंकार के नियंत्रण द्वारा ही हो सकती है। इन्द्रियों के नियंत्रण का वास्तव में यह अर्थ है कि उनकी क्रियाओं को शुभ कर्मो की ओर प्रवृत्त करना चाहिए तथा उन्हें अशुभ कर्मो के संपादन की ओर नहीं भटकने देना चाहिए।[2]

---

[1] एवं महेश्वरे भावस्थिस्तदसंगित्वमित्यर्थः।

—पाशुपत-सूत्र ५-१ (टीका)।

[2] तस्मादकुशलेभ्यो व्यावर्तयित्व कामतः कुशले योजितानि (यदा), तदा जितानि भवन्ति। —पाशुपत-सूत्र ५-७ (टीका)।

कौंडिन्य कहते हैं कि सांख्य तथा योग द्वारा दी हुई लक्ष्य की परिभाषा सत्य नहीं है। वह मोक्ष का मार्ग नही है। सांख्य तथा योग की शिक्षाएँ अशुद्ध हैं। मुक्त होने का अर्थ समस्त पदार्थों से पृथक् होना नहीं वरन् भगवान शिव से संयुक्त होना है।[1]

वैरागी को किसी खाली कमरे में रहना चाहिए, उसे अपने को अध्ययन तथा चिंतन में संलग्न रखना चाहिए तथा अपने को स्थिर करना चाहिए। उसे कम से कम छः माह तक निरंतर चिंतन में रहना चाहिए। जैसे-जैसे वह योग-पथ पर उन्नत होता है, उसे परमेश्वर के अनुग्रह द्वारा अनेक अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति होना आरम्भ हो जाता है।

पाशुपत वैरागी को भिक्षावृत्ति पर जीवन निर्वाह करना चाहिए तथा पशुओं के समान कठोर शारीरिक कष्ट सहन करने चाहिए। जिस योगी ने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, वह किसी कर्म अथवा पाप से प्रभावित नहीं होता। वह किसी मानसिक कष्ट अथवा शारीरिक रोगों से भी प्रभावित नहीं होता।

संपूर्ण विषय का सार यह कहा जा सकता है कि जब कोई अपने समस्त कर्मों तथा पापों से सर्वथा विरक्त हो जाता है, तब उसको समस्त पदार्थों पर से अपनी बुद्धि हटा कर शिव अथवा किसी प्रतीकात्मक नाम पर केन्द्रित करके चिंतन करते रहना चाहिए। हमने पहले ही देखा है कि योग की परिभाषा आत्मा के ईश्वर से निरंतर संयोग के रूप में की गई है, तथा यह सायुज्य अर्थात् ईश्वर का साहचर्य कहलाता है। परमेश्वर को ज्ञान तथा कर्म की नित्य शक्ति प्राप्त है, जिसके द्वारा वह सबका नियन्त्रण करता है, तथा इस ईश्वर के निष्कल स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। ईश्वर की ओर प्रयत्ति, इसके किसी गुण को ध्यान में रखकर नहीं करनीं चाहिए। यह सूत्र ५-२७ द्वारा व्यक्त किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर वाणी से व्यक्त होने वाली भी वस्तु से संबंवित नहीं है। अतः ईश्वर वाग्-विशुद्ध कहलाता है। योगी का श्मशान में ही अधिकतर रहना उत्तम है, जहाँ पर कोई संगी-साथी न होने के कारण, उसके पास चिंतन के लिए अधिक समय होगा तथा जिससे उसे धर्म प्राप्त होगा, जो यम नियम से प्राप्त महानता के समान है। इस प्रकार योगी समस्त अशुद्धियों को काटकर पृथक् कर देता है। अशुद्धियों को काटकर पृथक् करने का अर्थ बुद्धि को समस्त केन्द्रिय पदार्थो से हटाकर ईश्वर पर केन्द्रित करने के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं है। (यंत्रण-धारणात्मकश्छेदो दृष्टव्यः)। इस छेद अथवा पृथक्करण का अर्थ आत्मा को समस्त अन्य पदार्थो से विलग करना है। इसके द्वारा कारणों का समस्त जाल, जो

---

[1] अयं तु युक्त एव। न मुक्त इति विशुद्धमेतद् दर्शनं दृष्टव्यम्।

—वही ५-८ (टीका)।

दोप उत्पन्न करता है, काटकर पृथक् कर दिया जाता है। शब्द, स्पर्श आदि दनाएँ दोप हैं, क्योंकि इनसे हमारी बुद्धि में कामना, क्रोध, लोभ, भय, निद्रा, तथा मोह होता है। ये दोप हमें वस्तुओं का उपार्जन, रक्षा तथा उनसे राग तथा दूसरे को आघात पहुंचाने को प्रेरित करते रहते हैं। इसके फलस्वरु स्वयं को तथा दूसरे को भी कष्ट देते हैं। जब मनुष्य स्वयं को कष्ट देता है, होता है तथा यदि दूसरों को कष्ट देता है तब भी इस अवगुण के कारण वह दु है। इसे प्रकार ऐसे समस्त दुःख आत्मा से संयोजित हैं। समस्त इन्द्रिय प वृक्ष के फलों के समान हैं जो खाने के समय मीठे प्रतीत होते हैं, परन्तु अंत अधिक कष्ट उत्पन्न करते हैं। मनुष्य के दुःख का प्रारम्भ उसके जन्म के सम है तथा जीवनपर्यंत मृत्यु तक निरंतर होता रहता है, अतः मनुष्य को यह प्रय चाहिए कि वह पुनः जन्म न ले। इन्द्रिय-विषयों के भोग के सुखों की र बहुत दुष्कर है, वे राग उत्पन्न करते हैं। जब वे अदृश्य हो जाते हैं, तब वे अ उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त बिना अन्य मनुष्यों को आघात पहुंचाए इं का भोग करना कदाचित् ही सम्भव है। साधारण वस्त्र पहनने में भी मनुष्य जीवों की हत्या करनी पड़ती है। अतः मनुष्य को समस्त इन्द्रिय पदार्थों के अन्त करना चाहिए तथा शाकाहार अथवा मांसाहार जो कुछ भिक्षा में मिले संतुष्ट होना चाहिए।

ऊपर प्रस्तावित विच्छेद को बुद्धि अर्थात् अंतःकरण द्वारा करना है, जो चिंतन, आदेश तथा ज्ञान से प्रेरित मानी जाती है। बुद्धि चित्त भी कह चित्त का अर्थ ज्ञात करना, सुख व दुःख के अनुभव देना तथा धर्म व अधर्म संस्कारों को एकत्रित करना है। इस प्रकार, क्योंकि बुद्धि चित्त कहलाती है मनस् तथा अंतःकरण भी कहलाती है। इस प्रकार आत्मा को समस्त इन् से बुद्धि को विलग करके रुद्र अथवा शिव से अनुरक्त करना है। जब यह हो तब धर्म व अधर्म की प्रवृत्ति का अस्त हो जाता है। सर्प की पुरानी केंचुली यह आत्मा से निकल जाता है अथवा पके फल के समान नीचे गिर जाता है। जो इस प्रकार शिव में स्थिर है, निष्क्रिय हो जाती है तथा वह निष्कल भी है। इस अवस्था में बुद्धि शुभ अथवा अशुभ विचारों से रहित हो जाती : यह योग उपलब्ध हो जाता है तब मनुष्य सर्व-ज्ञाता हो जाता है, तथा तत्प किसी भी प्रकार के भ्रमपूर्ण विचारों की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। शैवयोग के अनुसार मुक्त व्यक्ति, पातंजल अनुशासन का अनुसरण करने वाले समान केवलिन् नहीं हो जाता वरन् वह सर्वज्ञाता हो जाता है, एवं उसे कोई होता, तथा यह ईश्वर के अनुग्रह से होता है। वह सर्वथा मुक्त इस अर्थ में कि वह अशुभ अथवा काल के किसी भी आक्रमण को रोक सकता है, तथा वह निर्भर नहीं है। इस प्रकार वह ईश्वर की महाशक्ति का सहकारी है, अथव

प्राप्त करता है। उसको मां के गर्भ में होने का अथवा जन्म आदि का कष्ट भी नहीं होता। अज्ञान से उत्पन्न उन दुखों से वह मुक्त है, जिनसे अहंकार उत्पन्न होता है, जो मनुष्य को यह भुला देता है कि वह बंधन में है। अतः मुक्त व्यक्ति जन्म व पुनर्जन्म तथा समस्त शारीरिक व मानसिक कष्टों से भी मुक्त हो जाता है।

महेश्वर शिव भी कहलाता है क्योंकि वह समस्त दुखों से सर्वदा पृथक् है।

इस प्रकार हम इस प्रणाली में पांच तत्व देखते हैं। प्रथम पति अथवा ईश्वर है, जो कारण तत्व है, जिसके अनेक नाम हैं—वाम, देव, ज्येष्ठ, रुद्र, कामिन, शंकर, काल, कला-विकरण, बल-विकरण, अघोर, घोरतर, सर्व, शर्व, तत्पुरुष, महादेव, ओंकार, ऋषि, विप्र, महानीश, ईशान, ईश्वर, अधिपति, ब्रह्म तथा शिव।[1] सांख्य-प्रणाली, कारण के रूप में प्रधान को स्वीकार करती है परन्तु पाशुपत-प्रणाली में ईश्वर कारण है जो प्रधान से भिन्न है।

कार्य तत्व 'पशु' है तथा पशु को ज्ञान, ज्ञान का साधन तथा जीवित प्राणी के रूप में वर्णित किया गया है। उनकी उत्पत्ति, विपरिवृत्ति और लय होते हैं। ज्ञान से तात्पर्य है—शास्त्र, ज्ञान, गुण, धर्म, प्राप्य पदार्थ, मूल्य, इच्छा आदि जो समस्त दुखों के विनाश की ओर प्रवृत्त करते हैं। पशु का द्वितीय तत्व जिसे कला कहा गया है दो प्रकार का है—कार्य के रूप में, जैसे पृथ्वी, जल, वायु आदि ज्ञान के साधन के रूप में, जैसे बुद्धि, अहंकार, मनस् तथा अंतःकरण आदि। पशु अर्थात् जीवित प्राणी तीन प्रकार के हैं—देवता, मनुष्य तथा पशु। 'प्रधान' तत्व, जो सांख्य में कारण माना जाता है, पाशुपत-शास्त्र में कार्य माना जाता है। जो कुछ ज्ञात अथवा दृश्य (पश्यन्) है, वह पाश कहलाता है तथा कार्य माना जाता है। अतः 'पुरुष' जो अन्य स्थानों में कारण माना जाता है, उसे यहाँ कार्य अर्थात् पशु माना जाता है। योग तथा विधि के तत्वों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है जो समस्त दुःखों के विनाश के साधन हैं।

कौंडिन्य के भाष्य के साथ पाशुपत-सूत्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट लगने लगता है कि चौदहवीं शताब्दी में माधव द्वारा उनके सर्व-दर्शन-संग्रह में उल्लिखित लकुलीश-पाशुपत प्रणाली ही सम्भवतः इन सूत्रों की भी प्रणाली है। पाशुपतों की यह वह प्रणाली हो सकती है जिसका शंकर ने ब्रह्म सूत्र की द्वितीय पुस्तक के द्वितीय अध्याय पर अपने भाष्य में उल्लेख किया है। यहां पर माया के सिद्धांत अथवा शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धांत का कोई उल्लेख नहीं है। मुक्ति के समय भी मुक्त आत्माएँ परमेश्वर शिव के साथ एक नहीं होती वरन् मुक्ति का केवल यह अर्थ है कि मानसिक स्थिरता के कारण भक्त शिव के निरंतर सम्पर्क में रहता है तथा यही 'सायुज्ज' शब्द

---

[1] पाशुपत-सूत्र ५-४७ (टीका)।

का अर्थ है। यही यह भी कहा गया है कि यद्यपि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तथापि मुक्त आत्माओं पर उसकी कोई शक्ति नहीं चलती। प्रकटतः ईश्वर ने संसार तथा जीवों की सृष्टि की है परन्तु यह पाशुपत-प्रणाली इस बात को स्पष्ट करने का विशेप प्रयत्न नहीं करती कि संसार अस्तित्व में किस प्रकार आया। इस अर्थ में शिव को संसार का निमित्त कारण स्वीकार करने के कारण ही यह पाशुपत-प्रणाली, श्रीकंठ की उस शैव प्रणाली तथा वायवीय संहिता की प्रणाली से बहुत भिन्न है, जहाँ अद्वैत पक्ष बहुत प्रधान है। यहां एकतत्ववाद, आंतरातीत ईश्वरवाद अथवा सर्वेश्वरवाद नहीं है, वरन् एकेश्वरवाद है। यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस ग्रंथ में वर्णित पाशुपत-प्रणाली, ब्राह्मणवादी प्रणाली लगती है क्योंकि केवल ब्राह्मणों की ही पाशुपत-प्रणाली की दक्षा दी जा सकती है, ऐसा उल्लेख इसमें मिलता है। तथापि यह ब्राह्मणवाद से अनेक दृष्टियों से पृथक् होती प्रतीत होती है। यह किन्हीं भी ब्राह्मणों के मान्य कर्म कांडों को प्रस्तावित नहीं करती परन्तु यह कुछ नवीन कर्म कांडों तथा जीवन के मार्गों की दीक्षा देती है जो ब्राह्मण समुदाय में प्रचलित नहीं हैं। 'ओम्' शब्द पर चिंतन की बात प्रस्तुत करने के कारण इस प्रणाली का ब्राह्मणवादी प्रणालियों से कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है परन्तु अन्य कर्म कांडों के विषय में यह सर्वथा वेद-विरोधी प्रतीत होती है। यह किसी भी द्राविड़ ग्रन्थ का, मूल-स्रोत के रूप में, उद्धरण या उल्लेख नहीं करती। इसके उपरान्त भी इसका श्रीकंठ की पाशुपत-प्रणाली अथवा वायवीय-संहिता के साथ तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

यह जान लेना भी जरूरी है कि प्रकृति की अवधारणा शक्ति के रूप में या अन्य किसी स्वरूप में जो पौराणिक पाशुपत मत में मिलती है, पाशुपत सूत्रों के पाशुपत सिद्धांत में नहीं मिलती। यहां सांख्य के कोई भी तत्व संसार की सृष्टि के विषय में संगत प्रतीत नहीं होते। योग के विषय में भी, पुराणों में उल्लिखित पाशुपत योग अथवा पाशुपत-योगों से तथा पतंजलि के योग सूत्र में वर्णित योग से यहां के पाशुपत योग का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। योग शब्द का प्रयोग निरंतर सम्पर्क के अर्थ में हुआ है, तथा समस्त मानसिक वृत्तियों के निरोध (चित्त-वृत्ति-निरोध) के अर्थ में नहीं, जैसाकि हमें पातंजल-योग में मिलता है। यहां प्रमुखता, प्रत्याहार को, अर्थात् बुद्धि को अन्य पदार्थों से विलग कर ईश्वर पर स्थिर करने को, दी गई है। अतः यहां 'निरोध-समाधि' के लिए कोई स्थान नहीं है, जो पातंजल-योग में कैवल्य से पूर्व आती है। यह असम्भव नहीं है कि किसी प्रकार शैव-प्रभाव पतंजलि के योग-सूत्र पर भी पड़ा हो, जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी बहुत सी सामग्री बौद्ध मत से प्राप्त की है। यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम योग-सूत्र पर व्यास-भाष्य की तुलना विश्वबन्धु के अभिधर्म कोप से करें। जो सांख्य-सूत्र हमें अब प्राप्त हैं वह सम्भवतः योग सूत्रों से परवर्ती रचना है, अतः योग सूत्र की यह मान्यता प्रतीत होती

है कि सांख्य तत्व-विज्ञान-सम्बन्धी अवधारणाओं की व्याख्या विना ईश्वर की मान्यता के की जा सकती है, जिसके विषय में कोई प्रमाण नहीं है। योग-सूत्र ने ईश्वर, जो शिव का नाम भी है की सिद्धि करने का प्रयत्न नहीं किया है, वरन् उसे पूर्वागत मान्यताओं में से एक के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में नैयायिकों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन की किसी भी प्रणाली ने तर्क द्वारा ईश्वर को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया है तथा परम्परा के अनुसार नैयायिक शैव माने जाते हैं।

इस संदर्भ में उन आगमों का उल्लेख किए विना जिनका हम आगे जाकर उल्लेख करेंगे दसवीं, ग्यारहवीं तथा चौदहवीं शताब्दियों तक पाशुपत-प्रणाली के विकास का अध्ययन किया जा सकता है। यह पहले कहा जा चुका है कि शंकर द्वारा उल्लिखित 'ईश्वरकारणीनि' नैयायिकों के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा मैं अब एक पाशुपत-रचना 'गणकारिका' का उल्लेख करूंगा जो हरदत्ताचार्य की मानी गई है, जिस पर भासर्वज्ञ ने रत्न टीका नामक टीका लिखी थी। भासर्वज्ञ 'न्यायसार' के ग्रन्थकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, जिस पर उन्होंने न्याय भूपण नामक टीका लिखी थी। इसमें उन्होंने निम्नलिखित विचारकों का खंडन किया है–दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, तथा प्रज्ञाकर गुप्त (प्रमाण वार्तिकालंकार के ग्रन्थकार जो लगभग दसवें शताव्दी के मध्य में विद्यमान थे तथा लगभग ९८० ईसवीं के रत्नाकर शांति ने जिनको उद्धृत किया है)। अतः भासर्वज्ञ दसवीं शताव्दी के दूसरे भाग में वर्तमान प्रतीत होते हैं।गणकारिका में आठ पद्य हैं तथा इसका उद्देश्य वही है जो पाशुपत-सूत्रों का है। जिस पाशुपत-सूत्र की हमने व्याख्या की है, यह वही है जिसका पाशुपत-शास्त्र के रूप में उल्लेख किया गया है जैसाकि सर्वदर्शन-संग्रह, पाशुपत शास्त्र का प्रथम सूत्र उद्धृत करता है।[1]

हरिभद्र के 'पड्दर्शन-समुच्चय' पर गुणरत्न अपनी टीका में कहते हैं कि नैयायिक 'योग' भी कहलाते हैं, तथा वे अपने को कम्वल से ढंक कर छोटा कौपीन पहनकर लम्वा दण्ड लेकर चलते हैं। उनके जटाएँ होती हैं, भस्म से शरीर का लेप करते है, यज्ञोपवीत रखते हैं, जलपात्र रखते हैं तथा साधारणतः जंगलों में अथवा वृक्षों के नीचे रहते हैं। वे विशेप रूप से फल मूल खाते हैं तथा सदैव आतिथ्यकारी होते हैं। कुछ के पत्नियां होती हैं तथा कुछ के नहीं। जिनके नहीं होती वे उत्तम माने जाते हैं। वे अग्नि के याज्ञिक नियमों का पालन करते हैं। उच्च अवस्था में वे नग्न घूमते हैं, वे अपने दांत तथा भोजन को जल से स्वच्छ करते हैं, तीनों समय भस्म का शरीर पर लेप करते हैं तथा शिव का चिंतन करते हैं। उनका मुख्य मंत्र ओम् नमः शिवाय है। इसी से वे अपने गुरु का अभिवादन करते हैं तथा उनके गुरु भी इसी विधि में उत्तर देते हैं। अपने उपदेशों में वे कहते हैं कि वे पुरुप अथवा स्त्रियां जो शैवदीक्षा के अभ्यास

---

[1] सर्व-दर्शन-संग्रह, नकुलीश-पाशुपत दर्शनः तत्रेदमादि-सूत्रम्, 'अर्थातः पशुपतेः पाशुपत-योग-विधि व्याख्यास्यामः' इति।

का बारह वर्ष तक अनुसरण करते हैं, अंत में निर्वाण प्राप्त करते हैं। संसार के स्रष्टा तथा संहारक सर्वज्ञशिव को ईश्वर माना गया है। शिव के निम्नलिखित अठारह अवतार हैं—नकुलीश, कौपिक, गार्ग्य, मैत्रेय, कोरुष, ईशान, परगाग्य, कपिलाण्ड, मानुष्यक, कौमिक, अत्रि, पिंगल, पुष्पक, वृहदार्य, अगस्ति, संतान, राशीकर तथा विद्या गुरु। वे उपरोक्त सन्तों का सम्मान करते हैं।

वे आगे कहते हैं कि जिस परम सत्ता की वे पूजा करते हैं, उस शिव में कोई भी पौराणिक लक्षण नहीं है जैसे कि केश की जटाएँ अथवा केशों में अर्ध चन्द्र आदि। वह परम सत्ता इस प्रकार के समस्त लक्षणों तथा वासनाओं से रहित है। जो सांसारिक सुख की कामना करते हैं वही ऐसे गुणों वाले राग जैसे गुणों से संयोजित अनुराग युक्त शिव की उपासना करते हैं। परन्तु जो वास्तव में सर्वथा विरक्त हैं, वे शिव की विरक्त रूप में पूजा करते हैं। मनुष्य केवल उसी प्रकार के फल प्राप्त करते हैं जिनकी वे कामना करते हैं तथा जिस रीति से वे देवता की पूजा करना चाहते हैं।

गुणरत्न कहते हैं कि वैशेपिक भी उसी प्रकार के बाह्य चिह्न तथा वस्त्रों का अनुसरण करते हैं, क्योंकि वैशेपिकों तथा नैयायिकों की दार्शनिक मान्यताओं में बहुत समानता है। गुणरत्न आगे कहते हैं कि चार प्रकार के शैव हैं—शैव, पाशुपत, महाव्रतधर तथा कालमुख। इनकी शाखा-प्रशाखाएँ भी हैं। कुछ ऐसे हैं जो भरत कहलाते हैं तथा जो जाति-नियम स्वीकार नहीं करते हैं। जो शिव की भक्ति करता है, वह भरत कहला सकता है। न्याय साहित्य में नैयायिक शैव कहलाते हैं क्योंकि वे शिव की पूजा करते है, तथा वैशेषिक पाशुपत कहलाते हैं। अत: नैयायिक-दर्शन शैव के नाम से तथा वैशेषिक पाशुपत के नाम से ज्ञात है। गुणरत्न कहते हैं कि जैसा उन्होंने देखा अथवा सुना है वैसा ही वह वर्णन करते हैं। उनकी मुख्य तर्क विद्या सम्बन्धी रचनाएँ न्याय-सूत्र, वात्स्यायन भाष्य, उद्योतकर की वार्तिक, वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका तथा उदयन की तात्पर्य परिशुद्धि हैं। भासर्वज्ञ की न्याय सार एवं उसकी टीका न्याय-भूपण, जयंत की न्याय कलिका तथा उदयन की न्याय कुसुमांजलि का भी महत्वपूर्ण रचनाओं के रूप में उल्लेख किया गया है।

शैवों के विषय में गुणरत्न के कथन की पुष्टि राजशेखर के षड्दर्शन समुच्चय में उसके द्वारा किये गये शैव विचार के वर्णन से होती है। राजशेखर आगे कहते हैं कि अक्षपाद जो न्याय सूत्र के लेखक माने गए हैं, पाशुपतों के न्याय-सिद्धान्त के प्रथम शिक्षक थे। वे चार प्रकार के प्रमाण, प्रत्यक्षीकरण, अनुमान, सादृश्यानुमान तथा शब्द प्रमाण स्वीकार करते हैं, तथा वे तर्क के निम्नलिखित सोलह पदार्थ स्वीकार करते हैं। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह स्थान। केवल यही विषय अक्षपाद के न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में उपस्थित किए गए हैं। समस्त दुखों का विनाश, मोक्ष के लिए अन्तिम लक्ष्य है। उनकी मुख्य तर्क शास्त्रीय रचनाएँ जयंतकृत, उदयनकृत एवं भासर्वज्ञ-कृत हैं।

पाशुपत-सूत्रों पर कौंडिन्य की टीका बहुत प्राचीन काल की प्रतीत होती है तथा यह कथन अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह रचना ईसा काल के प्रारम्भिक समय की थी। परन्तु कौन्डिय तथा राशीकर एक ही थे यह हम नहीं कह सकते। सर्व-दर्शन-संग्रह में राशीकर का उल्लेख है और वैसे उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि राशीकर का गौत्र-नाम कौंडिन्य नहीं हो सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नटीका के अतिरिक्त गणकारिका पर एक भाष्य भी था परन्तु यह भाष्य गणकारिका पर नहीं था, वरन् यह पाशुपत-सूत्रों पर कौंडिन्य का भाष्य था जिसका परीक्षण हम पहले ही कर चुके हैं। गणकारिका में पाँच प्रकार के गुणों के आठ पदार्थों तथा तीन प्रकार के गुणों वाले एक पदार्थ का भी उल्लेख किया गया है। जिस बल से अन्य पदार्थों की प्राप्ति होती है उनके वर्णन में गुरु में विश्वास, संतोष (मतेः प्रसादः), धैर्य, धर्म और अप्रमाद भी हैं।

स्वभावतः, बल के विषय में तब प्रश्न उठता है, जब किसी को अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी हो। अतः मोक्ष-प्राप्ति की विधि के अनुसरण में बल प्राप्ति का क्या महत्व है इस विषय में प्रश्न किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर है कि अज्ञान, दोष आदि के विनाश के लिए निश्चित ही बल की आवश्यकता है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित आते हैं—समस्त छिपे हुए अज्ञान का विनाश, दोषों का विनाश, उन समस्त पदार्थों का विनाश जो अनुराग की ओर प्रवृत्त करते हैं, किसी सम्भावित असफलता से रक्षा तथा ईश्वर के चिंतन द्वारा पशु के रूप में व्यक्ति के अस्तित्व की ओर प्रवृत्त करने वाले समस्त गुणों का अंत।

इस बल का प्रयोग भिन्न अवस्था व परिस्थितियों में किया जा सकता है। प्रथम, जब मनुष्य अपने शरीर पर भस्म का लेप करके भस्म पर लेटने आदि द्वारा अपने को पाशुपत पंथ का सदस्य प्रदर्शित करता है, इत्यादि। द्वितीय गुप्त अवस्था में जब मनुष्य दूसरों से यह तथ्य छिपाता है कि वह पाशुपत-पंथ का सदस्य है तथा जब वह साधारण ब्राह्मण के समान व्यवहार करता है। तृतीय अवस्था वह है जब मनुष्य अपनी समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसके उपरांत इसकी अवस्था वह है जिसमें समस्त आकर्षण समाप्त हो जाते हैं। इनमें पाशुपत योगी के, ऐसे व्यवहार सम्मिलित हैं, जैसे नृत्य करना तथा उन्मत्त के समान आचरण करना। अन्तिम अवस्था, सिद्धि अर्थात् अन्तिम मुक्ति की अवस्था है।

पांचवीं कारिका, दीक्षा की प्रक्रिया का उल्लेख करती है जिसके अन्तर्गत आवश्यक पूजा सामग्री, उचित समय, उचित कर्म, शिवलिंग तथा गुरु सम्मिलित हैं।

आगे की कारिकाएँ भिन्न प्रकार के लाभों का वर्णन करती हैं। इनमें ज्ञान प्रधान है। इस ज्ञान की नियमपूर्वक प्राप्ति, ज्ञेय पदार्थों की गणना तथा तत्पश्चात्

उनके विस्तृत वर्णन द्वारा की जा सकती है, जैसाकि हमें न्यायसूत्रों में मिलता है। इसमें विभिन्न प्रकार के प्रमाण, द्रव्य तथा गुणों का अन्तर, उस कर्म की परिभाषा जो समस्त दुःखों से सम्बन्ध विच्छेद रूपी अन्तिम कर्म की ओर प्रवृत्त करता है, सम्मिलित हैं। अन्य दर्शनों में दुःखों का विराम केवल एक निषेधात्मक गुण है परन्तु इस प्रणाली में दुःखों के पृथक्करण के अन्तर्गत सिद्धि प्राप्ति भी सम्मिलित है। सिद्धि की यह प्राप्ति, ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति कहलाती है। ज्ञानशक्ति का अर्थ शक्ति के रूप में ज्ञान है। इस क्रियाशक्ति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की गति शक्तियां आती हैं। क्योंकि यह प्रणाली स्वतः उद्‌विकास अथवा स्वतः अभिव्यक्ति के विचार में विश्वास नहीं करती, अतः इन शक्तियों की प्राप्ति, उच्च शक्तियों के संयोग द्वारा होती है। यह गुणों के उद्‌भव के विषय में न्यायसिद्धान्त के बहुत कुछ समान है। ज्ञान, गुण आदि के समस्त पदार्थ प्राप्तव्य के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इसमें जीव तथा निर्जीव पदार्थ जैसेकि तत्व, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियां तथा मन सम्मिलित हैं।

ईश्वर पति कहलाता है क्योंकि वह सदैव उच्चतम शक्तियों से संयोजित रहता है। यह शक्तियाँ उसे किसी क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त नहीं है वरन् उसमें नित्य रूप से स्थित हैं। इसी कारण वह अपने संकल्प द्वारा कोई ऐसा कर्म अथवा कार्य उत्पन्न कर सकता है जो हमारे सम्मुख सृष्टि के रूप में आता है तथा इसी के कारण संसार की सृष्टि उसकी लीला मानी जाती है। इसी कारण वह अन्य समस्त जीवित प्राणियों से भिन्न है तथा यही उसकी महत्ता है।

विधि अथवा उपयुक्त धार्मिक आचरण की प्रक्रिया में, उस प्रकार के कर्म सम्मिलित हैं, जो अन्ततः मनुष्य को शुद्ध करते हों तथा ईश्वर के समीप ले जाते हों। इस सम्बन्ध में पापों के विनाश के लिए तथा गुणों की उत्पत्ति के लिए 'तप' का विधान किया गया है। धर्म जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के कर्मकांड सम्बन्धी आचार आते हैं, ज्ञान-प्राप्ति के लिए विहित किया गया है। ईश्वर का निरंतर चिंतन जिसे नित्यता कहा गया है तथा समस्त दोषों से बुद्धि के सम्पूर्ण वियोग जिसे स्थिति कहा गया है का भी विधान है। अन्ततः ये ही मोक्ष की प्राप्ति कराते हैं, जब मनुष्य स्वयं शिव के समान अद्‌भुत शक्तियों से संयोजित हो जाते हैं। अन्य प्रणालियों में मुक्त आत्माओं में कोई अद्‌भुत चमत्कारी शक्तियाँ नहीं बतलाई गई है, उनके केवल समस्त दुःख विलय हो जाते हैं।

उपर्युक्त उपलब्धियाँ गुरु के साथ निवास द्वारा, अथवा उस स्थान पर जहाँ आश्रम नियमों का पालन करने वाले व्यक्ति रहते हैं, अथवा किसी भी गुप्त स्वच्छ, रिक्त स्थान में अथवा श्मशान स्थान में हो सकती है, अन्त में मुमुक्षु अपना शरीर त्याग कर महाप्रभु के स्थायी संयोग में रह सकता है।

अब उन साधनों की ओर ध्यान देना ठीक होगा जिनके द्वारा आकांक्षी अपना इच्छित लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इनमें से प्रथम को शास्त्रीय भाषा में 'वास' कहा गया है। इसके निम्नलिखित अनेक अर्थ हैं : ग्रंथों के शब्दों में उचित अर्थों के समझाने की योग्यता, उनका स्मरण, अन्य स्थानों से प्राप्त ज्ञान की सहायता से उस ज्ञान की विस्तारपूर्वक योजना तथा पूर्ति, अपने स्वयं के सम्प्रदाय के पक्ष में अन्य सम्प्रदायों की शिक्षाओं की आलोचना करने की योग्यता, ग्रन्थों की विभिन्न विविधार्थपरक व्याख्याओं का उचित अर्थ समझने की योग्यता, अपने विश्वासों को दूसरों तक पहुंचा सकना, बिना व्याघात, तथा आवृत्ति तथा किसी प्रकार के मोह के व्याख्यान देने की योग्यता जिससे गुरु संतुष्ट हो सके। इसे चर्या, परिचर्या अथवा क्रिया कहा गया है। चर्या शब्द शरीर पर भस्म के लेप आदि जैसी क्रियाओं के लिए भी प्रयुक्त होता है। पाशुपत प्रणाली के अनुसार भस्म से शरीर का स्नान विधिवत अनुष्ठित यज्ञ के समान हैं। अन्य प्रकार के यज्ञ अनुचित यज्ञ माने जाते हैं।

चर्या के दो या तीन प्रकारों के वर्णन में भासर्वज्ञ ने कौंडिन्य के भाष्य का ही अनुसरण किया है। भस्म का लेपन, भस्म पर लेटना, मंत्रों का उच्चारण आदि व्रत कहलाते हैं, जो सद्गुण उत्पन्न करते तथा दोष हटाते हैं। कौंडिन्य के भाष्य में वर्णित कम्पन, हंसना, ध्वनियाँ करना आदि के विषय में समस्त अन्य विधियों का भी यहाँ उसी प्रकार वर्णन है। वास्तव में गणकारिका तथा रत्नटीका ने भी कौंडिन्य के भाष्य में उपलब्ध शिक्षाओं का अनुसरण किया करती है, जो पाशुपत-सम्प्रदाय का अत्यधिक विख्यात भाष्य माना जाता है।

इस सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण विषय ध्यान देने योग्य है। ईश्वर स्वयं सर्वथा स्वतंत्र है। कर्म तथा उसके फलों का सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि कोई कर्म ईश्वर के संकल्प के बिना फल उत्पन्न नहीं कर सकता। समस्त कर्म ईश्वर के संकल्प द्वारा निरर्थक किए जा सकते हैं। अतः कर्म सिद्धांत जिसको दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में बहुत अधिक महत्व दिया गया है, यहाँ अनावश्यक माना गया है। पाशुपत-सूत्रों तथा कौंडिन्य के भाष्य के समय से चौदहवीं शताब्दी तक, जब सर्व-दर्शन-संग्रह लिखा गया था, नकुलीश पाशुपत-दर्शन का यही विचार था, यह तथ्य पूर्ण रूप से शैव ग्रन्थों द्वारा समर्थित होता है। समस्त जीवित प्राणियों के कर्म ईश्वर के संकल्प पर निर्भर हैं। ईश्वर के संकल्प तथा उसके परिणमन के मध्य मध्यस्थ के रूप में कर्म आवश्यक नहीं क्योंकि ईश्वर का स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है जिसकी उसे पूर्ति करनी हो।

अत्यन्त परिश्रम के पश्चात् हमें मृगेन्द्रागम की एक प्रति मद्रास राज्य हस्तलेख पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आगम पाशुपत पंथ के मुख्य

मूल ग्रन्थों में से एक था। परन्तु जो अंश हमें प्राप्त हुए हैं, वे मुख्यतः विभिन्न प्रकार के आचारों की व्याख्या करते हैं, तथा उनमें कोई दार्शनिक सिद्धांत नहीं है।

तिरुवाचक में माणिक्कवाचकर के शैव विचार

प्रस्तुत रचना में इस लेखक ने तमिल, तेलगू तथा कन्नड़ जैसी द्रविड़ भाषाओं की सामग्री का प्रयोग नहीं किया है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि लेखक को द्रविड़ भाषाओं का ज्ञान नहीं है, तथा इस आयु में नए सिरे से सीखने का समय भी नहीं है, क्योंकि इसमें सम्पूर्ण जीवन काल लग सकता है। द्वितीय कारण है कि इस इतिहास के पिछले भागों में केवल संस्कृत में प्राप्त सामग्री की ओर ही ध्यान दिया है। तृतीय यह कि हमारे विचार में दार्शनिक दृष्टिकोण से कन्नड़ साहित्य में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण सामग्री शायद ही हो जो संस्कृत में प्राप्त नहीं है। किन्तु यदि किसी विख्यात तमिल रचना का कोई विश्वसनीय अनुवाद प्राप्त हो सके, तो उस पर विचार किया जा सकता है। सौभाग्य से माणिक्कवाचकर लिखित अत्यन्त सम्मानित पुस्तक तिरुवाचक का एक विश्वसनीय अनुवाद रेवरेण्ड जी० यू० पोप ने किया है, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन तमिल के अध्ययन में व्यतीत किया है, तथा जिन्हें उस भाषा का एक योग्य विद्वान माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तमिल साहित्य विशेष रूप से काव्य सामग्री में समृद्ध था, तथा हमें अनेक भक्ति गीत तमिल तथा कन्नड़ दोनों में मिलते हैं, किन्तु तमिल अथवा कन्नड़ में मुझे कोई ऐसी क्रमबद्ध दार्शनिक रचना का ज्ञान नहीं जो संस्कृत में उपलब्ध न हो। तमिल साहित्य में अनेक संतों के विषय में पौराणिक कथाएँ तथा किंवदन्तियां भी प्रचुर मात्रा में हैं, जो पुराणों के नाम से ज्ञात जैसेकि पैरिय-पुराण तिरु-वातवुरार-पुराण, नाम्पियांदार नम्पि-पुराण तथा सेक्किलर-पुराण।

तिरु-वाचक, मणिक्कवाचचर कृत एक काव्य पुस्तक है। यह भक्ति भावों तथा दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है, परन्तु दर्शन के आधुनिक अर्थों में यह एक दार्शनिक प्रणाली नहीं है। पोप, बिना किसी प्रमाण के माणिक्कवाचकर को लगभग सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी का बताना चाहते हैं। आर० डब्लू० फ्रेजर भी अपने द्रविड़ जाति पर लेख[1] में बिना किसी प्रमाण के उन्हें नवीं शताब्दी में बताते हैं। माणिक्क-वाचकर का जन्म मदुरा के निकट माना जाता है। उनके नाम का अर्थ है 'वह जिसके वचन मणि हों।' वह विलक्षण बुद्धि सम्पन्न मनुष्य माने जाते हैं तथा ब्राह्मण धर्म एवं शैवागमों के उत्कृष्ट विद्वान। जैसा हमने अन्य स्थान पर इंगित किया है, ये आगम संस्कृत पद्यों के अलावा तमिल में भी लिखे गए हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि

---

[1] हेस्टिंग्स के 'धर्म तथा नीति' के विश्व कोश में।

माणिक्कवाचकर के विचार की पृष्ठभूमि संस्कृत पर आधारित थी। माणिक्कवाचकर के विषय में तिरु-विलैयाडिल तथा वातवुररपुराण में उपलब्ध पौराणिक कथा को जो पोप द्वारा संक्षिप्त रूप में वर्णित है फिलहाल हम छोड़ देते हैं। ऐसा कहते हैं कि उन्होंने राजा का मंत्री पद त्याग दिया था तथा एक शैवयोगी बन गए थे। उनकी बुद्धि उनके चारों ओर के उन व्यक्तियों के दुख से पीड़ित थी जो जन्म व मृत्यु के चक्र से गुजर रहे थे तथा जिन्हें उस शिव के प्रति उत्कट प्रेम नहीं था, जो उनकी रक्षा कर सकता था। अपनी मानसिक व्यग्रता की यह अवस्था, तथा अपने अज्ञान एवं यौवन की मूर्खताओं की स्वीकारोक्ति विशेष रूप से उन्होंने अपनी कविताओं में निबद्ध की है।

इसके उपरांत स्वयं शिव उनसे मिलते हैं तथा उसके पश्चात् वे शिव के शिष्य बन जाते हैं। शिव अपने तीन नेत्रों सहित, शरीर पर भस्म का लेप किए हुए मेयकंड-देव की विख्यात रचना 'शिव-ज्ञान-बोध', हाथ में लिए हुए उनके समक्ष प्रकट होते हैं। स्वयं पोप स्वीकार करते हैं कि 'शिव-ज्ञान-बोध' छठी शताब्दी तक जो माणिक्कवाचकर का समय माना जाता है, नहीं लिखी गई थी।[1]

अपने जीवन में वह एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की यात्रा तबतक करते रहे जबतक वे चिदम्बरम् नहीं पहुँचे, जहाँ उन्होंने बौद्धों को शास्त्रार्थ में तर्क तथा सिद्धिशक्तियों के प्रदर्शन द्वारा पूर्ण रूप से पराजित किया। तब वह अन्य भक्तों के पास वापस लौट गए। उन्होंने एक वृक्ष के नीचे लिंगम् की स्थापना की तथा दिन-रात उसकी पूजा की। उसी समय से उन्होंने अपनी काव्य रचनाएँ आरम्भ कीं, जो शिव तथा उनके अनुग्रह की महिमा से परिपूर्ण थीं। उनकी कविताओं से प्रकट होता है कि पाश्चात्ताप क्लेश, दुख की अनेक अवस्थाओं द्वारा उनकी बुद्धि का विकास किस प्रकार हुआ। उनकी शिव के प्रति भक्ति तथा प्रेम भी इसमें स्पष्ट हैं। माणिक्कवाचकर की कविता पर टीका करते हुए पोप कहते हैं 'कदाचित् ही कभी मानव-आत्मा की पवित्रता, शांति तथा दैवी साहचर्य के प्रति उत्कंठा की इससे अधिक सुन्दर अभिव्यक्ति मिल सके।[2]

ईश्वर की सर्वव्याप्ति का तथ्य शैवगीतों में प्रायः शिव की लीला के रूप में व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण विश्व उसकी मुस्कान से उज्ज्वल तथा उसकी आनन्दपूर्ण गतियों से उत्फुल्ल है। इस विचार को इतनी अधिक प्रमुखता दी गई है कि शिव को प्रायः धूर्त तथा उन्मत्त कहा गया है, तथा पाशुपत-प्रणाली में पाशुपत योगियों को उन्मत्त मनुष्यों

---

[1] शिव-ज्ञान-बोध मेयकंडदेव द्वारा १२२३ ईसवी में अथवा इसके लगभग लिखी गई मानी जाती है। फ्रेजर के 'धर्म तथा नीति शास्त्र के विश्व कोश' में द्रविड़ जाति पर लेख देखिए।

[2] पोप का अनुवाद, पृ० ३४.

के समान व्यवहार करने, इधर-उधर नृत्य करने तथा दूसरों के सामने अपने को बुरा दिखाने के लिए छद्म व्यवहार तक करने का, अनेक प्रकार की ध्वनियाँ करने का एवं अप्रासंगिक ढंग से हँसने का परामर्श दिया गया है। यह भी माना जाता है कि प्रायः शिव अपने भक्तों की स्वामिभक्ति की, अनेक प्रकार की अभिव्यक्तियों में अपने को अत्यन्त प्रतिकूल रूप में प्रदर्शित करके, परीक्षा करते हैं। विशेष रूप से शिव का नृत्य सम्पूर्ण विश्व तथा प्रेमपूर्ण हृदयों में उसकी अनन्त अनुग्रह पूर्ण क्रियाओं का प्रतीक है। वह आर्यो से पूर्व काल के श्मशान वासी असुर वर्तकों का स्मरण दिलाते हैं।

हम यह मानकर चलते हैं कि माणिक्कवाचकर की शिक्षाएँ शिव-ज्ञान-बोध के उपदेश के समान हैं। जिसकी रचना बाद के काल में हुई। शिव-ज्ञान-बोध पर उमापति की एक टीका है जिसका अनुवाद होईसिगटन ने १८६५ के 'अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी जरनल' में किया था। इस पुस्तक में विभिन्न प्रकार के मोक्ष वर्णित हैं। अन्य विचारों से शैवविचार की विभिन्नता देखते हुए भिन्न शैव-संप्रदायों के विचारों में अनेक अन्तर मिल सकते हैं। इनमें से कुछ अन्तर दक्षिणी शैवमत के भिन्न प्रकारों में पहले ही देखे जा चुके हैं। अनेक विद्वानों का विचार है कि आत्मा के स्वाभाविक दोष हटाए जा सकते हैं, जिससे वह समस्त पाशों से नित्य मुक्ति पा सके। किन्तु शैव सिद्धान्त इस पर बल देता है कि मुक्त अवस्था में भी दोष की संभाव्यता रहती है, चाहे वह क्रियाशील न हो। यह आत्मा में एक स्थायी कलंक के समान रहती है। इस प्रकार अनित्य जीवों में व्यक्ति का 'स्व' तथा उसकी अपूर्णताएँ परस्पर संयुक्त रहती हैं, तथा उनका मोक्ष में भी कभी विनाश नहीं होता। किन्तु अन्य शैव पंथियों का विचार है कि शिव के अनुग्रह द्वारा आत्मा के स्वाभाविक दोष हटाए जा सकते हैं, जिसका स्वाभाविक निष्कर्ष है कि समस्त बंधनों से नित्य मुक्ति संभव है। अन्य शैवों का विचार है कि मोक्ष में आत्मा अद्भुत सिद्धि प्राप्त कर लेती है, तथा मुक्त मनुष्य ईश्वरत्व तथा तदनुरूप गुणों के सहभागी हो सकते हैं, तथा सिद्धि नामक अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति तथा संपादन कर सकते हैं। कुछ अन्य व्यक्तियों का विचार है कि मोक्ष में आत्मा पाषाण के समान जड़ हो जाती है। यह उदासीन अस्तित्व जन्म व पुनर्जन्म के चक्र के दुख व संघर्ष से आत्मा की शरणागार है। हमने पहले ही संबद्ध खंडों में मोक्ष के बहुत से विचारों का विस्तृत रूप से उल्लेख किया है। परंतु माणिक्कवाचकर के अनुसार अन्त में शिव के अनुग्रह द्वारा आत्मा तीन प्रकार की अशुद्धता से मुक्त हो जाती है तथा दैवी ज्ञान प्राप्त कर लेती है एवं इस प्रकार ऊपर उठकर शिव के सानिध्य तथा अनंत आनंद एवं चैतन्यमय अवस्था में रहती है। यही विचार सिद्धांत-दर्शन का भी है।[1]

---

[1] पोप।

शैव-सिद्धांत में ईश्वर के अनुग्रह (तमिल में जो अरुल कहलाता है) के सिद्धांत को बड़ा महत्व दिया गया है। आणवमल की अशुद्धियाँ हटाने तथा मोक्ष-पथ-प्रदर्शित करने के लिए अनुग्रह देव अथवा गूढ़ विद्या है। आत्माएँ संचित कर्मों के अधीन हैं तथा उस संयुक्त अवस्था में बंधयुक्त आत्माएँ ईश्वर के अनुग्रह द्वारा ही छोड़ दी जाती हैं जो धीरे-धीरे अपने प्रयत्नों द्वारा अन्त में मोक्ष-प्राप्ति के लिए शरीर धारण कर लेती हैं। समस्त अवस्थाओं में अनुग्रह ही वह गतिशील शक्ति है जो साधक को क्रमशः उसके अन्तिम लक्ष्य की ओर पहुँचती हैं। शिव का अनुग्रह उसकी शक्ति के फलन द्वारा ज्ञान का प्रकाश देता है, जिससे मनुष्य जीवन के कर्मों को करते हैं एवं कर्म का संचय करते हैं, तथा सुख व दुख का अनुभव करते है। भौतिक संसार जड़ है तथा जीवों को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है। शिव के अनुग्रह द्वारा ही मनुष्यों को अपनी अवस्था का बोध होता है तथा तभी वे गुह्य ज्ञान प्राप्त करते हैं, जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसके उपरांत भी शिव के अनुग्रह का तथा वह किस प्रकार मनुष्य को आवृत करता हैं इसका ज्ञान उसे नहीं होता यद्यपि मनुष्य को समस्त इंद्रिय ज्ञान होते हैं। अनादि काल से मनुष्यों को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता रहा है परंतु वे कभी-कभी ही उसके भाजन बनते हैं तथा इस प्रकार बहुत से मोक्ष के मार्ग से वंचित रहते हैं।

जब उपर्युक्त गुरु मिल जाता है तथा जब वह मनुष्य को उचित मार्ग के अनुसरण का उपदेश देता है तब अनुग्रह को क्रियान्वित होते देखा जा सकता हैं। जब पाप तथा धर्म का संतुलन हो जाता है तव शिव का मुक्तिदायी अनुग्रह अपना कार्य-प्रदर्शन करना आरम्भ करता है। मोक्ष के लिए, मनुष्य को, कर्म के आध्यात्मिक सार का, दो प्रकार के कर्मों के स्वरूप का, उनसे संयोजित सुख व दुख के स्वरूप का तथा जो कर्मों को निश्चित समय पर परिपक्व करता है, जिससे आत्मा उनके फलों का अनुभव कर सके, ऐसे ईश्वर का ज्ञान होना चाहिए।

जिस प्रकार एक स्फटिक सूर्य के प्रकाश में अनेक रंगों को प्रतिविम्बित करता है, तथा इसके उपरांत भी अपना पारदर्शक गुण सुरक्षित रखता है, उसी प्रकार ईश्वर के अनुग्रह के रूप में शक्ति अथवा ज्ञान-प्राप्ति, आत्मा को देदीप्यमान करती है तथा संसार में व्याप्त है। शिव के अनुग्रह से प्राप्त गूढ़ ज्ञान के बिना कोई भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। शिव के बिना आत्मा बुद्धिहीन है। आत्माओं के समस्त कर्म शिव के क्रियात्मक मार्ग-प्रदर्शन द्वारा होते हैं, तथा ज्ञान के निमित्त के रूप में इंद्रियों का प्रत्यक्षीकरण भी शिव के अनुग्रह द्वारा ही होता है।

द्वितीय अवस्था में यह शिक्षा दी जाती है कि आत्मा की शुद्धि के लिए ज्ञान का प्रयोग किस प्रकार होता है। जो मनुष्य सांसारिक अनुभवों के भ्रमात्मक दुखों को सहन करते हैं, वे जैसे ही अपनी अशुद्धियों के विषय में अवगत हो जाते हैं वैसे ही वे

स्वाभाविक रूप से ईश्वर के अनुग्रह में मुक्ति खोजते हैं। पांडु के रोगी को मीठा दूध भी तीखा लगता है परंतु यदि जिह्वा स्वच्छ कर दी जाए, तब तीखापन चला जाता है, उसी प्रकार मौलिक अशुद्धियों के प्रभाव में समस्त धार्मिक आचरण अरुचिकर होते हैं, परंतु जब यह अशुद्धियाँ हटा दी जाती हैं तब गुरु की शिक्षाएँ क्रियाशील हो जाती हैं।

परम आनंद, जिसका इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, आध्यात्मिक प्रणाली से अनुग्रह द्वारा प्राप्त हो जाता है। ईश्वर का अनुग्रह स्वतः हमारे लिए प्रकट होता है। इस प्रकार परम आनंद अनुग्रह का वरदान है जिसे आत्माएँ स्वयं प्राप्त नहीं कर सकती।

केवल वे ही, जो इस अनुग्रह के भाजन हैं परम आनन्दस्वरूप शिव के साथ संयुक्त हो सकते हैं। एक दिलचस्प धारणा यह है कि आत्माएँ तथा शक्ति स्त्री जाति की हैं तथा शिव पति हैं, जिनमें रहस्यमय एकता संपन्न होती है। शिव पूर्ण आनंद स्वरूप है। यदि आत्मा तथा ईश्वर में रहस्यमय एकता मान ली जाती है तब आत्मा तथा ईश्वर का द्वैत कहाँ रहा ? उन्हें एक हो जाना चाहिए, अतः यह मानना होगा कि वे दोनों एक होकर भी विभाजित रहते हैं। जब बंधन हटा दिए जाते हैं तब भक्त अवाक्-आनंद की अनुभूति में ईश्वर से एक हो जाता है, तथा उसे यह कहने का अवसर ही नहीं रहता कि उसने शिव को प्राप्त कर लिया है। जो मोक्ष उपलब्ध करते है तथा जो समाधि की अवस्था को प्राप्त करते हैं, वे प्रभु से कभी पृथक् नहीं किए जा सकते। इस अवस्था में उनके समस्त शारीरिक कर्म ईश्वर के पूर्ण नियंत्रण में रहते हैं। इस प्रकार एक अवस्था आती है जिसमें ज्ञाता, गूढ़ ज्ञान तथा शिव कभी पृथक् नहीं वरन् परस्पर संविलीन प्रतीत होते हैं।

जो इस समाधि की अवस्था में प्रवेश कर लेते हैं, वे यद्यपि सर्वज्ञान तथा अन्य गुण प्राप्त कर लेते हैं, तथापि जबतक वे इस पृथ्वी पर हैं तबतक उन्हें अपने गुह्य ज्ञान के विषय, परमेश्वर के अतिरिक्त कुछ भी ध्यान नहीं होता। उनकी समस्त इंद्रियों का निरोध हो जाता है तथा वे अपने उद्‌गम में बहुत गहरी विलीन होती जाती हैं और अपने संवेदनों को प्रकट नहीं करतीं। देवी अनुग्रह अन्दर और बाहर स्पष्टतः प्रकट होने लगता है। इस गुह्य ज्ञान की अवस्था में भासमान विश्व केवल ईश्वर में ही निहित दृष्टिगोचर होता है।

पोप द्वारा अनुवादित वातवुरार-पुराण में चिदम्बरम् में माणिक्कवाचकर तथा बौद्ध गुरुओं के मध्य हुए प्रतिवाद का एक वर्णन है। किसी भी पक्ष को बौद्धमत के विषय में अत्यधिक ज्ञान होने की अभिव्यक्ति इस प्रतिवाद से प्रदर्शित नहीं होती। प्रतिवाद नगण्य विषयों पर होता है, तथा तार्किक संगति का भी उसमें अभाव है अतः उसका विशद विवेचन करना व्यर्थ है। इसमें भी बहुत संदेह है कि इस प्रतिवाद के कारण

किसी भी प्रकार, बौद्धमत के सम्मान में कुछ कमी हुई होगी। इसके ह्रास के तो वस्तुतः अनेक अन्य कारण थे, नवीं शताब्दी के पश्चात् दक्षिण भारत के विभिन्न पंथों का प्रादुर्भाव तथा उनमें परस्पर संघर्ष तथा राजनीतिक परिस्थितियां आदि।

माणिक्कवाचकर तथा शैव-सिद्धांत

शंकर के भाष्य (२-२-२७) में एक जगह उल्लेख आता है कि स्वयं शिव द्वारा लिखे गए 'सिद्धांत-शास्त्र' में शैवसिद्धांत प्रतिपादित हैं। शंकर हमें उसके प्रतिनिधि विचारों का विवरण देते हैं, जो दो प्रत्ययों के अंतर्गत आ सकते हैं : (१) वेदांत के इस विचार, कि ईश्वर समस्त सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है तथा उससे परे कुछ नहीं है, के विपक्ष में सिद्धांतों का अनुमान है कि ईश्वर निमित्त कारण है। वह (२) शैवसिद्धांत का भी उल्लेख करते हैं, जिसने तीन तत्त्व, पति, पशु तथा पाश स्वीकार किए। शैवों में वे महाकारुणिक, कापालिक आदि का उल्लेख करते हैं। जैसा मैंने बहुधा कहा है, किसी ऐसे शैवमत का, जिसे शंकर ने सिद्धांत नाम दिया है, निश्चितता से खोज करना तथा उन प्रणालियों की विशेषताओं की, जिनका वे खंडन करना चाहते थे, परिभाषा करना भी अत्यंत कठिन है। अब हमारे सम्मुख शैवसिद्धांत के नाम से ज्ञात शैवमत की प्रणाली तथा अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जो शैव 'सिद्धांत संप्रदाय' की रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमें अधिकांश टीकाओं के रूप में तमिल में लिखी गई हैं। इनमें से कुछ संस्कृत में प्राप्त हैं। इसी के समान प्रकार का शैवमत शिव-महापुराण के वायवीय-खंड में मिलता है। इस खंड यह में कहा गया है कि इस दर्शन का मौलिक सिद्धांत आगम रचनाओं में लिखा गया था जिनकी रचना शिव के अवतारों ने की थी। वही शिक्षाएँ तमिल आगमों में भी मिलती हैं, जिनकी वैसी ही प्रामाणिकता तथा वही विषय हैं। पोप कहते हैं कि शैव सिद्धांत-प्रणाली अत्यधिक विस्तृत, प्रभावशाली तथा निःसंदेह भारत के समस्त धर्मों से अधिक वास्तविक रूप से मूल्यवान् है। मुझे यह एक निरर्थक अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। शैवमत के मौलिक तथ्य वेदांती अद्वैतवाद तथा सांख्य से निकले हैं, तथा कभी-कभी न्याय सिद्धांतों का भी प्रयोग किया गया है। जैसाकि अन्य स्थान पर देखा गया है, न्याय शैवमत के पाशुपत-संप्रदाय का उल्लेख करता है। यह मानना भी संदेहास्पद है कि यह विशेष रूप से दक्षिण भारतीय तथा तमिल है क्योंकि हमारे पास वायवीय-संहिता में भी इसी प्रकार के सिद्धांत तथा उत्तर भारतीय शैवमत में भी ये ही विचार कुछ भिन्न रूपों में पाए जाते हैं। पोप के अनेक ऐसे कथन हैं जिनका कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं है। प्रस्तुत रचना का यदि कोई वाद-विवाद-संबंधी उद्देश्य होता, तो उनकी सप्रमाण अधिक आलोचना आवश्यक होती।

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि शैवमत का प्राचीनतम रूप दक्षिण भारत का प्रागैतिहासिक प्राचीन धर्म है, परन्तु मुझे आर्यों से पूर्व वर्तमान द्रविड़ धर्म के निश्चित

स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला है, जिसका मैं वर्तमान शैवमत से तादात्म्य कर सकूँ। अब भी यह अत्यंत संदेहास्पद है कि आर्यों से पूर्व द्रविड़ों का अन्य आदिवासी जातियों में प्रचलित प्रथाओं से भिन्न कोई क्रमबद्ध दर्शन अथवा धर्म था।

हमारे विचार से तो पाशुपत-सूत्र तथा भाष्य का उल्लेख शंकर ने किया था, तथा सम्भवत: वे ही शैवमत के प्रारंभिक आधार थे, जैसाकि काल्पनिक उड़ानों को छोड़ते हुए वास्तविक प्रमाणों द्वारा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। हम यह मान सकते हैं कि हर्षोन्मादपूर्ण धार्मिक नृत्य, असुर-पूजा के आचार, तथा अन्य आदिम क्रियाएँ उस समय विद्यमान थीं, जो यद्यपि मूलत: पूर्वजों की पूजा आदि के रूप में प्रचलित थीं तथापि शनैः-शनैः प्राचीनतम पाशुपतों द्वारा भी स्वीकार कर ली गई, जिनके व्यवहार तथा आचरण की दृष्टि से तो उनका ब्राह्मणीय सामाजिक क्षेत्र से तालमेल नहीं बैठता, परन्तु ऐसे शैवमत को मानने वालों का ब्राह्मण होना आवश्यक था। जाति अथवा वर्णविहीनता प्राचीन पाशुपत-शैवमत का आवश्यक स्वरूप नहीं था। एक पृथक् खंड में हम वैदिक काल से लेकर शिव के विषय की अवधारणाओं के विकास के विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। इस कथन का कोई प्रमाण नहीं है कि भारत के पूर्वी समुद्र-तट पर स्थित एक छोटे से ईसाई गिरजाघर ने देश के अति प्रभावशाली शैव तथा वैष्णव धर्मों को प्रभावित किया था। हमने देखा है कि जो संस्कृत संस्कृति के अनुयायी हों वे नियमित रूप से कदाचित् ही बौद्धमत के पाली ग्रंथ पढ़ते हों, यद्यपि पाली संस्कृत के इतने अधिक निकट है। इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि बौद्धों के साथ माणिक्कवाचकर का विख्यात शास्त्रार्थ महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा प्रतीत नहीं होता कि माणिक्कवाचकर अथवा श्री-लंकावासियों को एक दूसरे के धर्म के विषय में ज्ञान था। पोप का यह कथन सर्वथा अनुचित है कि कुमारिल भट्ट ने दक्षिण में वैयक्तिक देववाद के सिद्धांत का उपदेश दिया, क्योंकि कुमारिल द्वारा प्रतिपादित मीमांसा-सिद्धांत, किसी ईश्वर अथवा स्रष्टा के प्रत्यय को स्वीकार नहीं करता।

सम्भवत: नवीं शताब्दी के माणिक्कवाचकर शैव सिद्धांत नाम से ज्ञात विचारधारा के सबसे प्रथम संतों में से एक थे। सम्भवत: एक शताब्दी पश्चात् नाणसंबंधर तथा अन्य भक्त हुए जिन्होंने सिद्धांत का अधिक विकास किया। उनके विषय में किंवदंतियां पेरिय-पुराण में हैं। परन्तु यह आश्चर्य है कि धार के राजा भोज, जिन्होंने 'तत्व-प्रकाश' नामक अति श्रेष्ठ शैवरचना लिखी थी, इन तमिल लेखकों की ओर ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार चौदहवीं शताब्दी में माधव भी तमिल लेखकों में से किसी का उल्लेख नहीं करते हैं। हमें बताया गया है कि इसके पश्चात्, सन्तान गुरु (शिक्षकों का क्रम) नामक चौदह मुनि हुए जिन्होंने शैवसिद्धांत रूप में ज्ञात दर्शन की प्रणाली का उचित विस्तार किया। इनमें से एक उमापति थे जो १३१३ ईसवी में विद्यमान थे।

इस प्रकार वे माधव के समकालीन थे तथापि माधव ने उनका कोई उल्लेख नहीं किया है।

शैवों तथा श्री वैष्णवों द्वारा तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी के काल में ईश्वरवाद का महान् प्रचार हुआ। तिरुवाचगम की व्याख्या करते हुए उमापति कहते हैं कि समस्त वेदों के यथार्थ उद्देश्य का सार, तीन रहस्यमय शब्दों—पति, पशु तथा पाश में है। शैवसिद्धांत-प्रणाली के ये तीन तत्त्व हैं। परंतु हमने पहले ही इंगित किया है कि शैव-सिद्धांत की कोई विशेष विभेदात्मक विलक्षणता नहीं थी, आठवीं शताब्दी में शंकर ने इनका उल्लेख किया है, ये शैवमत के पाशुपत सम्प्रदाय के प्रधान सिद्धांत हैं। शिव-महापुराण के वायवीय खंड मे प्राप्त शैवमत के सम्प्रदायों का उल्लेख भी शंकर ने किया है। पति, पशु तथा पाश समान रूप से नित्य, अपरिवर्तनशील हैं, कालक्रम के परे हैं तथा काल से अप्रभावित हैं। यह 'पति' अन्य कोई नहीं वरन् शिव हैं जिनके अनेक नाम हैं जैसे रुद्र, पशुपति, एवं शिव आदि। उमापति कहते हैं कि, शिव परम सत्ता है जो न स्थाई रूप से व्यक्त है न अव्यक्त है, वह निर्गुण तथा विशिष्ट चिह्नों से रहित समस्त अशुद्धियों से मुक्त, निरपेक्ष तथा नित्य, असंख्य आत्माओं के विवेक का उद्गम तथा परिणाम रहित है। वह चेतन रूप तथा शुद्ध आनन्द स्वरूप है। दुष्टों की उन तक पहुँच कठिन है परंतु जो यथार्थ में उसकी पूजा करते हैं उनका वह अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रकार शिव, निष्कल, स्वयं में पूर्ण, परंतु अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व के रूप में वर्णित है, किन्तु बंधन उत्पन्न करने वाले अशुद्धि के अनंत समूह के तथ्य आत्माओं को देने के लिए वह एक सकल रूप धारण कर लेता है, अर्थात् ऐसा रूप जो सूक्ष्म आत्मिक शरीरों के खंडों से निर्मित हो। वह निराकार तथा ज्ञान-रूप है। वह सृष्टि करता है, रक्षा करता है, तथा सब कुछ माया की शक्ति को प्रदान कर देता है, परंतु वह अंतिम शरण-दाता है जो हमें कभी नहीं छोड़ता। उसका सब स्थानों में निवास है तथा वह सबमें व्याप्त है, जिस प्रकार अग्नि समस्त लकड़ी में व्याप्त है। वह केवल उन्हीं को अपना वरदान देता है जो इसके लिए उसके निकट जाते हैं।

जीवों के समूह के लिए जो पशु शब्द से अभिहित है, यह कहा गया है कि अनादिकाल से असंख्य आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त कर ली होगी। साधारणतः तीन प्रकार की अशुद्धियाँ, अर्थात्—अंधकार, कर्म तथा मोह होती हैं। जब मोह हटा दिया जाता है तब भी अंधकार बना रह सकता है। आत्माएँ केवल तब ही अपने इंद्रियों के ज्ञान से पदार्थों का प्रत्यक्ष कर सकती हैं, जब उनकी क्रियाओं के साथ कोई स्वाभाविक दैवी शक्ति भी सम्मिलित हो। समस्त जीव मूल अशुद्धियों से दूषित होते हैं। उन तीन प्रकार की अशुद्धियों का शिव को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जो बंधनकारी हैं।

पर-शिव अथवा महेश्वर तथा परा-शक्ति एक के ही दो रूप हैं। शिव शुद्ध ज्ञान हैं तथा शक्ति शुद्ध क्रिया है। उनके संयोग से निम्नलिखित का विकास होता है—

(१) इच्छाशक्ति जो ज्ञान तथा क्रिया के समान अनुपात की एक संधि है, (२) क्रिया-शक्ति, जो क्रिया की अधिकता के साथ ज्ञान तथा क्रिया की संधि है, तथा (३) ज्ञान-शक्ति जो ज्ञान की अधिकता के साथ ज्ञान व क्रिया की संधि है, जिसे अरूल-शक्ति भी कहते हैं। अरूल-शक्ति ज्ञानशक्ति के रूप में आत्माओं की मुक्ति के समय क्रियात्मक रहती है, जबकि निरोधान-शक्ति के रूप में यह उस समय क्रियात्मक रहती है जब आत्माएँ बंधन में बंधती हैं।

संक्षेप में शैवसिद्धांत की स्थिति, जहाँ तक हम तमिल रचनाओं के प्रामाणिक अनुवादों से तथा पोप व शोमरस आदि द्वारा लिखित तमिल साहित्य के प्रामाणिक अध्ययनों से ज्ञात कर सकते हैं, इस प्रकार निष्कृष्ट की जा सकती है कि वे आत्माएँ जो शरीर में व्याप्त हैं, स्वयं जड़रूप हैं तथा वे बौद्धिक साधन भी अचेतन है, जिनसे वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होता है। चेतन अनुभवों का केवल शिव की शक्ति से ही उद्गम हो सकता है। सूर्य की किरण के समान यह शक्ति मूल शक्ति है जो शिव से अविभेद्य है। शैवसिद्धांत-सम्प्रदाय का चार्वाक सम्प्रदाय से प्रत्यक्ष विरोध है जो किसी भी स्रष्टा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। शैवसिद्धांत-सम्प्रदाय एक परम सत्ता के अस्तित्व को मानता है और यह तर्क प्रस्तुत करता है कि वही भासमान विश्व की उत्पत्ति, पालन तथा विलय करता है। समस्त जीवों, नरों एवं नारियों सहित तथा उन पदार्थों सहित जो निर्जीव हैं, परंतु भासमान अस्तित्व के अन्तर्गत हैं, सम्पूर्ण विश्व कुछ समय के लिए अस्तित्वगत होता है तथा तत्पश्चात् विलीन हो जाता है, परन्तु इसके उपरांत जैसाकि हमने पहले कहा है इससे भौतिक संसार तथा आत्माओं के स्वरूप के विषय में हमारा ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रारम्भ से किस प्रकार जीव आणवमल नामक अशुद्धियों से संयोजित हुए। आत्माओं की मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् भी आत्माएँ ईश्वर से एक अथवा संयुक्त नहीं होतीं। इन कठिनाइयों से बचने के लिए शैवमत के कुछ अन्य रूपों ने कुछ भिन्न प्रकार की धाराओं का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि शक्ति शिव का एक अंश मानी गई है तथा इससे तंत्र-दर्शन के अनेक रहस्यमय पक्षों का निर्माण हुआ है, तथापि ईश्वर से भक्तों का व्यक्तिगत संबंध सेवा-भाव तथा सम्पूर्ण आत्मसमर्पण पर आधारित है। इसमें आरवार अर्थात् वैष्णव संतों में देखे गए आनंदपूर्ण प्रेम के शृंगारमय पक्ष का नितांत अभाव है।

किसी अर्थ में तिरुवाचकम माणिक्कवाचकर की आध्यात्मिक जीवन-कथा मानी जा सकती है जिसमें उनके जीवन के विभिन्न कालों के अनुभवों का कथन तथा उनकी व्याख्या है। यह रचना उनके धार्मिक अनुभवों तथा उत्साह से परिपूर्ण है तथा इसमें धार्मिक मानसिकता की विभिन्न स्थितियों का भी वर्णन है। इस प्रकार वह कहते हैं—

कर्मों की भीषण ज्वाला अब भी निरंतर दोहरे प्रज्वलित है–
अब मैं क्या करूँ ?
न तो तन द्रवीभूत होकर अस्तित्व खोता है
और न ही 'मिथ्या' धूलिसात होता है।
मन उस रक्तिम ज्वाल के मधु से
एकाकार नहीं हो पाता,
पेरन तुरइ के महान सुन्दर प्रभु।[1]
मैं पुकारूँ, प्रतीक्षा करूँ, नाचूँ, गाऊँ या देखूँ ?
ओ अनन्त। मैं क्या करूँ ?
शिव की, जो असीम आनन्द से भर देते हैं,
पेरन तुरइ के महान प्रभु की,
सब मेरे साथ विनत होकर वन्दना करो।[2]
उन्होंने मुझ में दीन भावना भरकर
जन्म चक्र से मुक्त किया।
मेरी आत्मा में अनिर्वचनीय आनन्द की पुलकन भरी
पेरन तुरई के प्रभु ने, शिव ने,
असीम अनुकम्पा से मुझे अपना लिया।
मेरी सब पीड़ाओं पर अनुलेप लग गया है
और हुई है अमर, दिव्य चिरानन्द की प्राप्ति।[3]
महामहिम, सर्वोपरि, असीम प्रभु,
मुझे, जो तुम्हारा तुच्छ, नीचातिनीच दास मात्र है,
तुमने उस सर्वोच्च आनन्द का भागी बनाया है,
जिसे अन्य किसी ने न जाना है, न पाया है।
महाप्रभु मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ।[4]
तुम सभी जो उसके सेवक हो गए हो,
अपने हर नादान, मिथ्या विचार को दूर कर दो।
सुरक्षा के इस दृढ़ दुर्ग, इस पावन चिह्न को
अन्तिम क्षण तक दृढ़ता से ग्रहण किए रहो।
इस पापांकित देह को विसर्जित कर दो,

---

[1] तिरुवाचकम्, पृ० ३३४।
[2] वही।
[3] वही, पृ० ३३६।
[4] वही, पृ० ३३६।

शिव अपने लोक में अवश्य ही हमें स्थान देंगे।
भुजंगधारी, विभूति-भूषण अपने चरण कमलों में
अवश्य शरण देंगे।[1]

भोज तथा उसके टीकाकारों के अनुसार शैवदर्शन

चौदहवीं शताब्दी में माधव अपने सर्व-दर्शन-संग्रह में दर्शन की एक प्रणाली 'शैवदर्शन' का उल्लेख करते हैं जो इस विचार को अस्वीकार करता है कि ईश्वर अपने संकल्प से हमारे लिए समस्त अनुभवों का सृजन करता है और यह मानता है कि ईश्वर ऐसा हमारे अपने कर्मों के आधार पर ही करता है। माधव ने इस दर्शन को शैवागमों पर आधारित बतलाया है जिनकी रचना शिव अर्थात् महेश्वर द्वारा की गई मानी जाती है। श्रीकंठ तथा अप्पय के दर्शन का विवेचन करते हुए हमने बतलाया था कि वे अट्ठाईस आगमों का उल्लेख करते है, यह माना जाता है कि इन सबको शिव तथा उसके अवतारों ने लिखा था इन सबका तात्पर्य एक ही है चाहे वे द्रविड़ भाषा में हों अथवा संस्कृत में। यद्यपि हमारे लिए समस्त आगमों को प्राप्त करना सम्भव नहीं है, तथापि पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप मे अनेक आगम उपलब्ध हैं। कुछ आगमों के अपने ही प्रमाण के अनुसार वे संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय प्रादेशिक भाषाओं में लिए गए थे।[2] यद्यपि आगम महेश्वर द्वारा लिखे गए थे तथापि हम यह देखते हैं कि समस्त आगमों का एक ही उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। इससे शैवागमों की व्याख्या में बहुत भ्रम उत्पन्न होता है। इसके उपरांत भी अंतर सदैव इतने स्पष्ट नहीं हैं कि वे शैवमत के विभिन्न उप-संप्रदायों के विशिष्ट लक्षणों की परिभाषा स्पष्ट कर सकें।

सम्भवत: ११वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध राजा भोज ने जिसने 'सरस्वती-कंठाभरण' तथा 'योग-सूत्र' पर टीका लिखी है तत्व-प्रकाश नामक रचना भी लिखी जिसका माधव ने अपने सर्वदर्शन-संग्रह में उल्लेख किया है। माधव ने अघोर शिवाचार्य का भी उल्लेख किया है जिनकी 'तत्व-प्रकाश' पर टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है परंतु उन्होंने श्रीकुमार का उल्लेख नहीं किया है जिसकी तत्व-प्रकाश पर टीका त्रिवेंद्रम ग्रंथमाला मे तत्व-प्रकाश ग्रंथ के साथ प्रकाशित हो चुकी है। प्रतीत होता है कि अघोर शिवाचार्य ने मृगेंद्रातम पर मृगेंद्रागम-वृत्ति-दीपिका नामक एक अन्य टीका लिखी थी।

---

[1] वही, पृ० ३२६।

[2] संस्कृतैः प्राकृतैर्यश्चाशिष्यानुरूपतः,
देश भाषाद्युपायैश्च च बोधयेत स गुरुः स्मृतः।
—शिव-ज्ञान-सिद्ध, (मैसूर, हस्तलेख, संख्या ३७२६)।

अपनी टीका लिखते हुए अघोर शिवाचार्य कहते हैं कि वह, यह टीका इस कारण-वश लिख रहे हैं कि अन्य व्यक्तियों ने तत्व-प्रकाश की व्याख्या आगम शास्त्रों के सिद्धांतों से अपरिचित होने के कारण, अद्वैत सिद्धान्त वाली मनोवृत्ति से करने का प्रयत्न किया था। २-२-३७ में शंकर द्वारा माहेश्वर-सम्प्रदाय के खंडन से हमें यह ज्ञात होता है कि उसने माहेश्वरों को ऐसे व्यक्ति माना था जो ईश्वर को संसार का केवल निमित्त कारण मानते थे तथा संसार का उपादान कारण उससे पृथक् ही किसी तत्त्व को मानते थे। शंकर के अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्मन् संसार का उपादान व निमित्त कारण दोनों है। यथार्थ में संसार ब्रह्मन् के अतिरिक्त कुछ नहीं है यद्यपि भ्रम के कारण नानाविध संसार का आभास होता है, जिस प्रकार भ्रम द्वारा रज्जु में सर्प का आभास होता है। यह विवर्तवाद कहलाता है जो उस परिणामवाद के विपरीत है जिसके अनुसार एक भौतिक परिवर्तन द्वारा संसार की उत्पत्ति होती है। परिणामवाद सांख्य अनुयायियों द्वारा स्वीकार किया गया है। एक अन्य विचार के अनुसार ईश्वर निमित्त कारण है जो संसार की रचना व निर्माण परमाणुओं अथवा भौतिक शक्ति, अर्थात् स्थूल माया के द्वारा करता है। नैयायिक मानते हैं कि क्योंकि संसार एक कार्य है तथा यंत्रवत् व्यवस्था की उत्पत्ति है, अतः इसका एक बुद्धिमान स्रष्टा होना आवश्यक है जो परमाणु तत्त्वों की सीमाओं तथा सामर्थ्य से परिचित हो। अतः ईश्वर अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है जिस तरह कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है। यही विचार कुछ शैवागमों जैसे मृगेंद्र, मातंग परमेश्वर आदि का भी है।

तत्व-प्रकाश की व्याख्या करने में श्रीकुमार अपनी अस्थिर मनोदशा का परिचय देते हैं, कभी वे ईश्वर के निमित्त कारण होने के आगम-विचार का अनुसरण करते हैं, तथा वह कभी वेदांत के विवर्तवाद के अनुसार व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। अघोर शिवाचार्य, आगम दृष्टिकोण की एक अधिक निश्चित स्थिति लेते हैं तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं।[1] वायवीय-संहिता में व्याख्यात शैवमत के हमारे विवरण में हमने देखा है कि पौराणिक व्याख्याकारों ने शैवमत को किस प्रकार पूर्ण अद्वैतवाद के निश्चित पथ की ओर अग्रसर किया है, तथा सांख्य की प्रकृति को किस प्रकार ईश्वर की उस शक्ति के रूप में माना है, जो न तो ईश्वर से भिन्न है और न उससे तदात्म है। ऐसा विचार स्वाभाविक ही एक प्रकार की अस्थिरता की ओर अग्रसर करता है यह प्रासंगिक स्थानों पर देखा जा चुका है। माधव के अनुसार

---

[1] विवादाध्यासितं विश्वं विश्व-वित्-कर्तृ-पूर्वकम्, कार्यत्वादवयोः सिद्धं कार्यं कुंभादिकं यथा, इति श्रीमन्-मातंगेऽपि, निमित्त-कारणं तु ईश इति। अयं चेश्वर-वादोऽस्माभिः मृगेन्द्र-वृत्ति-दीपिकायां विस्तरेणापि दर्शित इति।

—अघोर-शिवाचार्य की तत्व-प्रकाश पर टीका, (अडयार हस्तलेख)

शैवागम पति, पशु व पाश नामक तीन तत्त्वों तथा विद्या, क्रिया, योग एवं कार्य नामक चार अन्य तत्त्वों की व्याख्या करते हैं। जीवों की कोई स्वतंत्रता नहीं है तथा बन्धन भी स्वयं निर्जीव हैं परन्तु दोनों ईश्वर की क्रिया द्वारा संयुक्त हो जाते हैं।

भोज ने अपनी पुस्तक तत्त्व-प्रकाश, शैवदर्शन द्वारा स्वीकृत विभिन्न तत्त्वमीमांसीय तथा अन्य तत्त्वों की व्याख्या करने के लिए लिखी है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व शिव है जो चित् माना जाता है, जिसका अर्थ शैवों के अनुसार संयुक्त ज्ञान व क्रिया है।[1] समस्त निर्जीव सत्ताओं का अधीक्षण तथा निरीक्षण करने वाले तत्त्व के रूप में ऐसे चेतन ईश्वर को स्वीकार करना पड़ता है। यह अनंत सत्ता स्वयं सिद्ध तथा एक ही है, यह निःशरीर है तथा किसी पर निर्भर नहीं है, यह एक तथा निरूपम है। यह सर्व-व्याप्त तथा नित्य भी है। मुक्त जीव मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् इसी के समान हो जाते हैं, परंतु ईश्वर सदैव एक ही समान तथा सदैव मुक्त रहता है तथा वह कभी किसी अन्य उच्चतर सत्ता द्वारा निर्देशित नहीं होता। यह समस्त वासनाओं से रहित है। यह समस्त अशुद्धियों से भी रहित है।[2]

मृगेन्द्र अथवा मातंग परमेश्वर की तरह अघोर शिवाचार्य भी शैवागमों का अनुसरण करते हुए यह मानते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व नैयायिक पद्धति के तर्कों से अनुमानित किया जा सकता है। अतः यह तर्क दिया गया है कि ईश्वर ने संसार की सृष्टि की है, वह उसका पालन करता है तथा उसका संहार करेगा; वह हमारी दृष्टि पर आवरण डाल देता है। वहीं हमें मुक्त भी करता है। ये पांच क्रियाएँ अनुग्रह के अन्तर्गत आती हैं। वास्तव में अनुग्रह का अर्थ ईश्वर की उस शक्ति से है जो स्वयं सांसारिक विषयों के रूप में अभिव्यक्त है तथा व्यक्ति के कर्मानुसार उसको बंधन व मोक्ष की ओर प्रवृत्त करती है। बहुत सम्भव है कि शैवमत के कुछ सम्प्रदायों में ईश्वर की क्रियाशीलता को ही 'अनुग्रह' माना गया हो। ये व्यक्ति महाकारुणिक कहलाते थे। इस प्रकार अनुग्रह का अर्थ सृष्टि की क्रिया तक विस्तृत हो जाता है। यदि यह साधारण अनुग्रह होता तब यह केवल उसी समय हो सकता था जबकि संसार पहले से ही अस्तित्व में आ चुका होता।[3] किन्तु इस अनुग्रह में जो क्रियात्मक

---

[1] मृगेन्द्र को उनकी तत्व-प्रकार की टीका से उद्धृत करते हुए अघोर शिवाचार्य कहते हैं चेतन्यं दृक्-क्रिया-रूपमिति "चिद्घन" चिदेव घनं देह-स्वरूपं यस्य स चिद्घनः। यह चिद्घन वह विशेषण है, जिससे तत्त्व-प्रकाश में शिव को विभूषित किया गया है।

[2] मोहो मदश्च रागश् विषादः शोक एव च, वैचित्तम चैव हर्षश्च सप्तैते सहजा मलाः।
—तत्व-प्रकाश, कारिका १ पर अघोर शिवाचार्य की टीका, (अयार-हस्तलेख)।

[3] अनुग्रहश्चात्रोपलक्षणम्। —वही।

रूप में सृष्टि, पालन, संहार, जीवों की दृष्टि पर आवरण डालना तथा अन्त में उन्हें मुक्त करना सम्मिलित है।[1] श्रीकुमार इस स्थिति का स्पष्टीकरण यह मानकर करते हैं कि दृष्टि पर आवरण डालने तथा मुक्ति द्वारा ज्ञान देने की क्रियाएँ परस्पर विरोधी नहीं है क्योंकि मुक्ति और ज्ञान केवल उनके लिए है जिन्हें आत्म-नियंत्रण, इन्द्रिय-नियंत्रण, धैर्य एवं समस्त भोगों के परित्याग की शक्ति प्राप्त है, तथा पूर्वोक्त उनके लिए है जिन्हें यह प्राप्त नहीं।[2] इस प्रकार ईश्वर अपनी पांच प्रकार की क्रियाओं द्वारा, समस्त जीवों के मोक्ष तथा सुखानुभवों के लिए उत्तरदायी है। उसकी 'चित्' उसकी क्रियाओं के अविभाज्य रूप से संबंधित है। यद्यपि ईश्वर चित् स्वरूप है, तथा उस रूप में जीवों के समान है, तथापि ईश्वर उन शक्तियों द्वारा, जो जीवों को स्वयं प्राप्त नहीं, उन्हें मोक्ष प्रदान कर सकता है। यद्यपि ईश्वर की चित् पूर्णतः क्रिया से संयोजित है तथापि यह उससे अभिन्न है। दूसरे शब्दों में ईश्वर शुद्ध वैचारिक गतिविधि है।

शिव की शक्ति एक है यद्यपि इसे इसके विभिन्न कार्यो के अनुसार जिनका यह सम्पादन करती है, विभिन्न रूपों में प्रदर्शित किया जा सकता है। श्रीकुमार यह इंगित करते हैं कि इस शक्ति का मूल आकार विशुद्ध आनन्द है जो शुद्ध चित् से अभिन्न है। संसार की सृष्टि के लिए ईश्वर की अपनी शक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती, जिस प्रकार हम स्वयं शरीर के समस्त कार्यों का सम्पादन अपनी स्वयं की शक्ति द्वारा कर सकते हैं, तथा किसी अन्य बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं होती। इस शक्ति को माया से विभिन्न समझना आवश्यक है। माया पर विचार करते समय हम इसे बिंदु माया नामक अनंत शक्ति मान सकते हैं, जो संसार का उपादान कारण है।[3]

---

[1] तत्व-प्रकाश, कारिका ७।

[2] वही—तत्व-प्रकाश पर टीका, कारिका ७।

[3] कार्य भेदेऽपि मायादिवन्नास्याः परिणाम इति दर्शयति तस्य जड़धर्मत्वात्। अद्याम् प्रधान-भूताम् समवेताम् अनेन परिग्रह-शक्तिस्वरूपम् विन्दु-मायात्मकम् अपि अस्य वाह्य-शक्ति-द्वयम् अस्ति (अघोर शिवाचार्य की टीका, अडयार हस्तलेख) किन्तु श्रीकुमार के विचार से माया से संयुक्त होकर शिव संसार के निमित्त तथा उपादान कारण बनते हैं :

निमित्तोपादान-भावेन अवस्थानाद् इति ब्रूमः।

इस विचारानुसार शैवमत शंकर के अद्वैतवाद में समानता आ जाती है। अघोर शिवाचार्य ने अपनी टीका इस विचार के विरोध में लिखी। उनका कथन है कि यह विचार उन शैवागमों के विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है जो ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं।

श्रीकुमार की टीका में प्राप्त शैवसिद्धांत अद्वैतवादी पुराणों में, शिवद्वैत-प्रणाली के रूप में (विशेषतः सूत-संहिता में) पहले ही आ चुका है।[1]

शिव केवल अपनी शक्ति द्वारा जीवों को अनुभवों तथा मोक्ष का प्रावधान करता है। ऊपर वर्णित पांच प्रकार की क्रिया को भी 'एक शक्ति' से पृथक् किन्तु उसके विभिन्न कार्यों से सम्वादनार्थ विभिन्न प्रकारों के रूप में मानना चाहिए।

तत्व-प्रकाश का उद्देश्य शैवागमों में उपलब्ध शैवदर्शन की व्याख्या करना है तथा मुख्यतः पति, पशु तथा पाश नामक पदार्थों का वर्णन करना है। पति ईश्वर है एवं पशु, अणु कहलाता है तथा पांच पदार्थ पांच पाश हैं। अणु ईश्वर पर आश्रित हैं तथा वे विभिन्न प्रकार के बंधन से मुक्त हैं। पांच प्रकार के पदार्थ मल के कारण उत्पन्न हैं तथा वे बिन्दु माया की शुद्धियों तथा अशुद्धियों के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। श्रीकुमार इंगित करते हैं कि क्योंकि आत्माएँ मल से अनादिकाल से संयोजित है, अतः वे माया के शासन में आ जाता है, परन्तु क्योंकि आत्माएँ शिव के स्वरूप की हैं, अतः जब यह मल जला दिया जाता है, तब वे शिव से एक हो जाती हैं। पांच प्रकार के पदार्थ जो बंधनकारी हैं मल, कर्म, माया, संसार (जो माया से उत्पन्न है) तथा बांधने वाली शक्ति है।[2]

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि यह शक्ति ईश्वर की है तब किस प्रकार बंधन में आने वाले विषयों का गुण बन जाती है ? उत्तर है कि वास्तव में शक्ति प्रभु की है तथा बन्धन या पाश में यह शक्ति केवल इस अर्थ में ही उपचरित मानी जा सकती है कि बंधन अथवा बंधन की शक्ति जीव में तथा उसके द्वारा अनुभव की जाती है।[3] वह परमेश्वर की ही शक्ति।

पशु वे हैं जो पाश से बंधे हैं, अर्थात् वे जीव जो जन्म व पुनर्जन्म के चक्र से होकर निकलते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीकुमार आत्म चेतना तथा स्मृति के आधार पर आत्मा के विवेचन करने का प्रयत्न करते हैं, तथा यह मानते हैं कि इन तथ्यों की बौद्धों

---

[1] सूत संहिता, पुस्तक ४ पद्य २८।

[2] मलं कर्म च माया च मायोत्थमखिलं जगत्, तिरोधानकरी शक्तिरर्थ पंचकमुच्यते।
—श्रीकुमार की टीका पृ० ३२।

[3] ननु कथमेकस्या एव शिव-शक्तेः पति पदार्थः च पाश-पदार्थे च संग्रह उच्यते। सत्यम्, परमार्थतः पति-पदार्थ एव शक्तेरन्तरभावः पाशत्वं तु तस्यां पाश धर्मानुवर्तनेन उपचारात्। तदुक्ते श्रीमन्मृगेन्द्रे—तासां माहेश्वरी शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा, धर्मानुवर्तनादेव पाश इति उपचर्यंत, इति।
—अघोर शिवाचार्य की टीका, (अडयार-हस्तलेख)।

द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकी जो क्षण भंगुर आत्माओं में विश्वास करते थे। ये तीन प्रकार की हैं–वे जो मल तथा कर्म से संयोजित हैं, वे जो केवल मल से संयोजित हैं, (ये दोनों प्रकार की आत्माएँ सम्मिलित रूप से 'विज्ञानकल' कहलाती है), तथा तीसरे प्रकार की सकल कहलाती हैं जो मल, माया तथा कर्म से संयोजित है। प्रथम, अर्थात् विज्ञानकल पुनः दो प्रकार की हो सकती है अर्थात् अशुद्धियों से संयोजित तथा अशुद्धियों रहित। वे जो मल से मुक्ति प्राप्त कर लेती हैं, ईश्वर द्वारा विभिन्न दैवी कार्यों के लिए नियुक्त की जाती हैं तथा उन्हें विद्येश्वर तथा मंत्रेश्वर कहते हैं। किन्तु सूक्ष्म शरीर का निर्माण करने वाले आठ तत्त्वों के समष्टि शरीर से संयुक्त होने के कारण अन्य आत्माएँ नवीन जीवन चक्र में चली जाती हैं। ये आठ तत्त्व इस प्रकार हैं–पांच ज्ञानेन्द्रियां, मनस्, बुद्धि तथा अहंकार, ये सब पुर्यष्टक अर्थात् आठ तत्त्वों वाला शरीर कहलाते हैं।

वे, जिनके मल परिपक्व हो जाते हैं, उचित दीक्षा द्वारा ईश्वर से वह शक्ति प्राप्त कर सकते हैं जिनके द्वारा मल हटाए जा सकते हैं तथा वे ईश्वर से एक हो जाते हैं। किन्तु अन्य जीव ईश्वर द्वारा बंधनों में बांध दिए जाते हैं तथा विविध अनुभवों के चक्र को सहन करने के लिए बंधे रहते हैं जिसके अंत में वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

पाश चार प्रकार के हैं–मल, कर्म, मायेय और माया। मल का पाश अनादि है तथा हमारे ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति पर आवरण के रूप में है। अनादि काल से कर्म का भी प्रवाह होता रहता है, वह मल पर निर्भर है। तृतीय मायेय कहलाता है जिसका अर्थ माया (जो चतुर्थ है) द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर हैं। अघोर शिवाचार्य का कथन है कि मायेय का अर्थ उन वासना के पशों से हैं जो कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं। प्रलय के समय जिनके मायेय मल नहीं होता, वे स्वयं अकेले रह जाते हैं परन्तु मुक्त नहीं होते।

परन्तु मल क्या है ? यह एक अनाध्यात्मिक पदार्थ माना जाता है जिसके कार्य अनेक है। इसी कारण जब एक व्यक्ति का मल हटा दिया जाता है तब वह दूसरों में कार्य कर सकता है। ईश्वर की आवरण-शक्ति के समान यह मल दूसरे व्यक्यों में कार्य करता रहता है यद्यपि यह किसी एक व्यक्ति में से हटाया जा सकता है। जिस प्रकार भूसी बीज का आवरण करती है उसी प्रकार मल व्यक्ति के स्वाभाविक ज्ञान तथा कर्म का आवरण करता है, तथा जिस प्रकार भूसी अग्नि तथा ताप से जल जाती है उसी प्रकार जब आंतरिक आत्मा प्रकाशमान होती है तब मल हट जाता है। यह मल हमारे शरीरों के लिए उत्तरदायी है। जिस प्रकार ताम्बे का कालापन पारे से हटाया जा सकता है उसी प्रकार शिव-शक्ति द्वारा आत्मा का कालापन हट जाता है।

कर्म अनादि है तथा धर्म एवं अधर्म स्वरूप है। श्रीकुमार धर्म व अधर्म की परिभाषा दुःख तथा सुख के विशिष्ट कारण के रूप में करते हैं, तथा वे धर्म तथा अधर्म

श्रीकुमार की टीका में प्राप्त शैवसिद्धांत अद्वैतवादी पुराणों में, शिवद्वैत-प्रणाली के रूप में (विशेषत: सूत-संहिता में) पहले ही आ चुका है।[1]

शिव केवल अपनी शक्ति द्वारा जीवों को अनुभवों तथा मोक्ष का प्रावधान करता है। ऊपर वर्णित पांच प्रकार की क्रिया को भी 'एक शक्ति' से पृथक् किन्तु उसके विभिन्न कार्यो से सम्वादनार्थ विभिन्न प्रकारों के रूप में मानना चाहिए।

तत्व-प्रकाश का उद्देश्य शैवागमों में उपलब्ध शैवदर्शन की व्याख्या करना है तथा मुख्यत: पति, पशु तथा पाश नामक पदार्थों का वर्णन करना है। पति ईश्वर है एवं पशु, अणु कहलाता है तथा पांच पदार्थ पांच पाश हैं। अणु ईश्वर पर आश्रित हैं तथा वे विभिन्न प्रकार के बंधन से मुक्त हैं। पांच प्रकार के पदार्थ मल के कारण उत्पन्न हैं तथा वे बिन्दु माया की शुद्धियों तथा अशुद्धियों के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। श्रीकुमार इंगित करते हैं कि क्योंकि आत्माएँ मल से अनादिकाल से संयोजित हैं, अत: वे माया के शासन में आ जाता है, परन्तु क्योंकि आत्माएँ शिव के स्वरूप की हैं, अत: जब यह मल जला दिया जाता है, तब वे शिव से एक हो जाती हैं। पांच प्रकार के पदार्थ जो बंधनकारी हैं मल, कर्म, माया, संसार (जो माया से उत्पन्न है) तथा बांधने वाली शक्ति है।[2]

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि यह शक्ति ईश्वर की है तब किस प्रकार बंधन में आने वाले विषयों का गुण बन जाती है? उत्तर है कि वास्तव में शक्ति प्रभु की है तथा बन्धन या पाश में यह शक्ति केवल इस अर्थ में ही उपचरित मानी जा सकती है कि बंधन अथवा बंधन की शक्ति जीव में तथा उसके द्वारा अनुभव की जाती है।[3] वह परमेश्वर की ही शक्ति।

पशु वे हैं जो पाश से बंधे हैं, अर्थात् वे जीव जो जन्म व पुनर्जन्म के चक्र से होकर निकलते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीकुमार आत्म चेतना तथा स्मृति के आधार पर आत्मा के विवेचन करने का प्रयत्न करते हैं, तथा यह मानते हैं कि इन तथ्यों की बौद्धों

---

[1] सूत संहिता, पुस्तक ४ पद्य २८।

[2] मलं कर्म च माया च मायोत्थमखिलं जगत्, तिरोधानकरी शक्तिरर्थ पंचकमुच्यते।

—श्रीकुमार की टीका पृ० ३२।

[3] ननु कथमेकस्या एव शिव-शक्तेः पति पदार्थः च पाश-पदार्थे च संग्रह उच्यते। सत्यम्, परमार्थतः पति-पदार्थ एव शक्तेरन्तरभावः पाशत्वं तु तस्यां पाश धर्मानुवर्तनेन उपचारात्। तदुक्ते श्रीमन्मृगेन्द्रे—तासां माहेश्वरी शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा, धर्मानुवर्तनादेव पाश इति उपचयंत, इति।

—अघोर शिवाचार्य की टीका, (अडयार-हस्तलेख)।

के विषय में अन्य विचारों व सिद्धांतों के खंडन का प्रयत्न करते हैं। माया वस्तु सत्ता मानी जाती है, जो संसार का कारण है। हमने पहले ही देखा है कि बंधन (मायेय) माया के कार्यों से उत्पन्न हैं, इस कारण माया पाश का मूल कारण है। यह प्रातिभासिक नहीं है जैसा वेदांतियों का कथन है वरन् यह संसार का उपादान कारण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मल, माया, कर्म तथा मायेय रूप से ईश्वर की शक्ति, पाश का आधारभूत प्रत्यय है।

शिव से उत्पन्न ये प्रथम पांच शुद्ध तत्त्व हैं। शिव का तत्त्व बिन्दु माना जाता है तथा यह सबका मूल तथा प्रारम्भिक कारण है। यह माया के समान नित्य है। अन्य चार तत्त्व इससे उत्पन्न होते हैं तथा इस कारण इसे महामाया माना जाता है। ये तत्त्व विभिन्न संसारों के पौराणिक अधीक्षक ईश्वर है जिन्हें विद्येश्वर मंत्रेश्वर आदि कहा गया है। बिन्दु से शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा विद्येश्वर उत्पन्न होते हैं। ये तत्त्व शुद्ध तत्त्व माने जाते हैं। व्यक्तियों को अनुभव का तथा कर्म करने का अवसर प्रदान करने के लिए पांच तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, जो काल, नियति, कला, विद्या तथा राग है। अव्यक्त, गुण तथा तत्पश्चात् बुद्धि एवं अहंकार, मनस्, पांच कर्मेन्द्रियां व पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा भूत तत्त्व जो माया के तेईस तत्त्वों का निर्माण करते है, माया से उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि, प्रथम पांच तत्त्व—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा विद्या हैं। ये सब शुद्ध चित् स्वरूप (चिद्रूप) हैं, तथा इस स्वरूप का होने के कारण इनमें कोई मल नहीं हो सकता। इसके उपरांत सात तत्व हैं जो शुद्ध व अशुद्ध दोनों हैं (चिदचिद्-रूप) तथा ये माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग तथा पुरुष हैं। यद्यपि शुद्ध चित् स्वरूप है तथापि अपने अशुद्ध संयोजन के कारण यह अशुद्ध प्रतीत हो सकता है। इन तत्त्वों के उपरांत चौबीस तत्त्व है जो इस प्रकार हैं। अव्यक्तगुण-तत्त्व, बुद्धि, अहंकार, मनस्, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्र तथा पांच महाभूत। ये समस्त छत्तीस तत्त्व हैं।

यदि तत्त्वों के इस विभाजन की ओर हम ध्यान दे तब हम यह पाते हैं तथाकथित अशुद्ध तत्त्व अधिकांशतः सांख्य दर्शन के तत्त्व हैं। परन्तु जबकि सांख्य में प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था के रूप में अव्यक्ति के समकक्ष समझी जाती है तब यहाँ शैवदर्शन में अव्यक्त अनभिव्यक्ति है जो माया से उत्पन्न होता है तथा गुणों का उत्पन्न करता है।

सार-संक्षेप के रूप में हम यह कह सकते हैं कि, शैवागमों पर आधारित तत्व-प्रकाश में प्रदर्शित विचारधारा, भारतीय दर्शन के कुछ सिद्धांतों के साथ, कुछ पौराणिक कथाओं का अनोखा संमिश्रण है। एक टीकाकार श्रीकुमार ने इसमें शंकर का अद्वैत-दर्शन पढ़ने का प्रयत्न किया है जबकि अन्य टीकाकार अघोर शिवाचार्य ने इस प्रणाली में

अनादि इच्छा (संकल्प) है जिसके द्वारा सृष्टि के उद्भव तथा प्राकृतिक नियमों को समझने के लिए यह माना जाता है कि उसके नित्य संकल्प द्वारा कर्मो के अनुसार विभिन्न धाराओं में प्रकृति के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाया जा सकता है। ईश्वर अन्य किसी पुरुष के समान है, केवल उसमें क्लेश नहीं है जिनसे साधारण पुरुष संयोजित है, तथा इसके कोई कर्म एवं कर्म के पूर्व संस्कार नहीं है। ऐसा दृष्टिकोण इस प्रणाली को विरोध से भी बचा लेता है, परंतु सिद्धांत-संप्रदायों की ईश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद के मध्य अस्थिर स्थिति का समर्थन करने के लिए कोई संगत तर्क नहीं है। शांकर वेदांत में ब्रह्मन भी यथार्थ है, तथा एक मात्र वही उपादान तथा निमित्त कारण है। जगदाभास केवल एक आभास है तथा इससे पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। यह माया द्वारा उत्पन्न एक प्रकार का भ्रम है, जो न सत् है, और न असत्, क्योंकि यह भ्रम की परिभापा के अंतर्गत आ जाता है। धर्म तथा दर्शन के विरोध से बचने के लिए शैव-संप्रदाय के भिन्न रूपों को पृथक् करना होगा।

शिव-तत्व, जिससे उपर्युक्त पांच शुद्ध तत्व (सदाशिव आदि) उत्पन्न होते हैं, विंदु अर्थात् सभी परिणामों से अतीत शुद्ध ज्ञान तथा क्रिया शक्ति कहलाता है। यह माना जाता है कि यह शुद्ध शिव या विंदु अथवा महामाया, सृष्टि के समय विभिन्न शक्तियों से परिपूर्ण रहते है, तथा इन शक्तियों में तथा इनके द्वारा माया और उसके विकार विश्व की उत्पत्ति के लिए क्रियान्वित होते हैं, जो आत्माओं के बंधन का आधार हैं। विश्व को उत्पन्न करने के लिए अनेक शक्तियों की यह गति अनुग्रह कहलाती है। इन शक्तियों द्वारा जीवों तथा निर्जीव पदार्थो का उचित सम्बन्ध करवाया जाता है, तथा सृष्टि का कार्य चलता रहता है। अतः सृष्टि प्रत्यक्ष रूप में शिव के कारण नहीं, वरन् उसकी शक्ति के कारण है। आगे अधिक कठिनाई तब अनुभव होती है, जब यह कहा जाता है कि यह शक्तियाँ ईश्वर से भिन्न नहीं है। ईश्वर के संकल्प तथा प्रयास केवल उसकी शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं।[1]

ईश्वर के ज्ञान तथा कर्म के बीच दोलायमान विभिन्न व्यापार सदाशिव, ईश्वर और विद्या के भिन्न तत्वों के रूप में प्रदर्शित किए गए हैं। परंतु ये व्यापार दिक् तथा काल में घटित अस्थायी घटनाएँ नहीं है, वरन् केवल बौद्धिक वर्णन हैं। वास्तव में शिव तत्व सदैव एक समान रहता है। विभिन्न क्षण केवल काल्पनिक हैं। अनेक

---

[1] इस प्रकार 'मातंग परमेश्वर' पृ० ७६, से उद्धृत करते हुए श्रीकुमार कहते हैं :
तदुक्तं मातंगे :

पत्युः परा सूक्ष्मा जाग्रतो द्योतन-क्षमा,
तया प्रभुः प्रबुद्धात्मा स्वतंत्रः स सदाशिवः।

शक्तियों से युक्त केवल शिव-तत्व ही है, जिसके बौद्धिक मूल्यांकन के लिए उसके अनेक भेद किए जा सकते हैं ।[1]

सांख्य-प्रणाली में यह माना गया था कि प्रकृति स्वत: अपने स्वयं के नैसर्गिक स्वभाव के कारण, समस्त जीवों को, उनके अनुभवों की सामग्री प्रदान करने के लिए विकास की प्रक्रिया में अग्रसर होती है, तत्पश्चात् उनको मुक्त कर देती है । सिद्धांत-प्रणालियों में यही विचार अनुग्रह शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है । यहाँ शक्ति का तात्पर्य है अनुभव की उत्पत्ति तथा मोक्ष के लिए अनुग्रह से संयोग करना है । शिव को अटल तथा अचल मानने के कारण इस प्रणाली में सगुण ईश्वर को स्थान नहीं है । निर्गुण सत्ता के साथ अनुग्रह का विचार संगत रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकता ।

ईश्वर की शक्तियाँ, जिन्हें हम उसका संकल्प अथवा प्रयास कहते हैं, कारण हैं तथा माया उपादान है, जिससे संसार का विधान होता है, परंतु यह माया इस रूप में इतनी सूक्ष्म है कि इसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता । यह सभी के लिए एक सामान्य कारण पदार्थ है । यह माया हममें विभ्रम उत्पन्न करती है तथा हममें उनसे अभेद बुद्धि भी पैदा करवाती है, जो हमसे भिन्न हैं । माया का यह भ्रमात्मक कार्य है । इस प्रकार भ्रम को अन्यथा-ख्याति के समान प्रकार का मानना होगा, अर्थात् वह भ्रम जिसमें मनुष्य एक वस्तु को अन्य वस्तु समझता है, जैसाकि योग में है । समस्त कर्म माया में सूक्ष्म रूप में निहित माने जाते हैं, तथा जीवों के लिए जन्म व पुनर्जन्म के चक्रों को चलाते हैं । इस प्रकार माया उन अन्य समस्त वस्तुओं की द्रव्यात्मक सत्ता है, जिनका हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं ।

परिवर्तनशील माया तथा अपरिवर्तनशील ईश्वर अथवा शिव के संबंध के विषय में मुख्य भ्रांति की व्याख्या हमने पहले ही की है । परंतु इसके पश्चात् यह प्रणाली आस्तिकवाद की ओर सुगमता से मुड़ जाती है, तथा समस्त जीवों को अनुभव की सामग्री प्रदान करने के लिए ईश्वर की शक्तियों द्वारा ईश्वर के संकल्प से माया किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है यह स्पष्ट करती है । काल भी माया का एक कार्य है । काल में तथा काल द्वारा नियति आदि के अन्य तत्व उत्पन्न होते हैं । नियति का अर्थ सबको नियंत्रित करना है । यह उसी अर्थ में प्रयुक्त है जिस अर्थ में हम 'प्राकृतिक नियम' शब्द का प्रयोग करते है, जैसे बीज में तेल का अस्तित्व, भूसी में दाने का तथा इस प्रकार की अन्य समस्त नैसर्गिक प्राकृतिक घटनाएँ । नियति शब्द की उत्पत्ति 'नियम' से है जो दिक् तथा काल में कार्य करता है । तथाकथित कलातत्व नियति

---

[1] तत्वं वस्तुत एकं शिव-सज्ञां चित्र-शक्ति-शत-खचितम्,
शक्ति व्यापृति-भेदात्तस्येते कल्पिता भेदाः । —तत्व-प्रकाश २-१३

जाती हैं, जिससे वे बहुत ग्रंशों में स्वयं ज्ञान प्राप्त करने तथा क्रिया करने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं। इस प्रकार कला वह है, जो कर्तृत्व अभिव्यक्त करती है (कर्तृत्व व्यंजिका)। काल के द्वारा ही अनुभव व्यक्तियों से संयोजित किए जा सकते हैं।[१] कला के कार्य से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा ज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थों को समस्त अनुभव सम्भव होते हैं।

सांख्य प्रणाली में यह माना जाता है कि बुद्धि पदार्थों के सम्पर्क में आती है, तथा तब उनके आकार ग्रहण करती है। वहाँ स्थित अध्यक्ष पुरुष द्वारा ऐसे बुद्धिगत आकार प्रकाशित किए जाते हैं। तत्व प्रकाश में प्रतिपादित सिद्धांत-प्रणाली इस विचार से असहमत है। यह मानती है कि अक्रिय होने के कारण पुरुष प्रकार उत्पन्न नहीं कर सकता। जिसे बुद्धि जानती है, वह विद्या या ज्ञान के तत्व द्वारा ग्रहण होता है, क्योंकि विद्या पुरुष से भिन्न है, तथा वास्तव में वह माया से उत्पन्न है। वह पदार्थों, बुद्धि तथा आत्मा के मध्य एक मध्यस्थ कड़ी बन सकती है। माया से उत्पन्न होने के कारण, बुद्धि स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकती, परंतु ज्ञान की उत्पत्ति के लिए विद्या एक पृथक् पदार्थ के रूप में उत्पन्न होती है। यह एक आश्चर्यपूर्ण सिद्धांत है, जो सांख्य से भिन्न है, परंतु ज्ञान-मीमांसीय विचार या व्याख्या के रूप में दार्शनिक दृष्टि से निरर्थक ही है। साधारणतः राग का अर्थ मोह है, जो समस्त व्यक्तिगत प्रयासों का सामान्य कारण है। यह बुद्धि का गुण नहीं है, वरन् एक सर्वथा भिन्न तत्व है। जब किसी की प्रवृत्ति किसी भी इन्द्रिय विषय की ओर नहीं हो तब भी 'राग' हो सकता है, जो एक व्यक्ति को मोक्ष की ओर अग्रसर करेगा।[२] पशु से संयोजित यह काल, नियति, कला, विद्या तथा राग की समष्टि उसे पुरुष बनाती है, जिसके लिए भौतिक संसार अव्यक्त, गुण आदि के रूप में विकसित होता है। यहाँ भी सांख्य-प्रणाली से इसकी भिन्नता की ओर ध्यान देना चाहिए। सांख्य में अव्यक्त का निर्माण गुणों की साम्यावस्था से होता है, परंतु यहाँ गुण अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं, जो एक पृथक् तत्व है।

शैव-प्रणाली निम्नलिखित तीन प्रमाण स्वीकार करती है : प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द-प्रमाण। प्रत्यक्ष में वह सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनों को स्वीकार करती है, जिनकी व्याख्या इस रचना के प्रथम दो भागों में की गई है। अनुमान के विषय में

---

[१] इस प्रकार 'मातंग' से उद्धृत करते हुए श्री कुमार कहते हैं (पृ० १२१) यथाग्नि-तप्त-मृत्पात्रं जन्तुनालिंग्ने क्षमम तथाणुं कलया विद्धं भोगः शक्नोति वासितु भोग-पात्री कला ज्ञेया तदाधारश्च पुद्गलः।

[२] इस प्रकार—श्री कुमार कहते हैं (पृ० १२४) अस्य विषयावभासेन विना पुरुष प्रवृत्ति-हेतुत्वाद् बुद्धि-धर्म-वैलक्षण्य सिद्धिः मुमुक्षोर्विषय-तृष्णस्य तत्साधने विषयावभासेन विना प्रवृत्तिर्दृष्टा।

कार्य से कारण का अनुमान तथा कारण से कार्य का अनुमान तथा तृतीय प्रकार का सामान्यतो दृष्ट अनुमान स्वीकार करते हैं।

बुद्धि से उत्पन्न अहंकार का तत्व स्वयं को जीवन तथा आत्मचेतना की भावनाओं में अभिव्यक्त करता है किन्तु आधारभूत तत्व 'आत्मा' इन भावनाओं से अप्रभावित रहती है। यह प्रणाली सात्विक, राजस तथा तामस अहंकार, के सांख्य के समान, त्रिवा विभाजन में विश्वास करती है। पूर्णतया सांख्य के समान ही अन्य तत्व हैं जिनकी विस्तृत व्याख्या की पुनरावृत्ति अनावश्यक है।

शिव तत्व तथा माया का सम्बन्ध परिग्रह-शक्ति कहलाता है। इस सम्बन्ध की प्रक्रिया इस अर्थ में समझी जाती है कि शिव की उपस्थिति मात्र से माया में विविध रूपांतर होते हैं, तथा वही इसे संसार के रूप में इसके विकास की ओर अथवा समय आने पर विनाश की ओर तथा पुनः सृष्टि की ओर प्रवृत्त करती है। इसकी तुलना सूर्य तथा कमल से की जा सकती है। केवल सूर्य की उपस्थिति में कमल स्वयं खिल जाता है, जबकि सूर्य सर्वथा अपरिवर्तित रहता है। इसी प्रकार चुम्बक की उपस्थिति में लौह-चूर्ण में गति होती है। इस तथ्य की विविध धार्मिक शब्दों द्वारा विविध व्याख्याएँ की गई हैं, जैसे ईश्वर का संकल्प, ईश्वर का अनुग्रह तथा ईश्वर द्वारा समस्त जीवित प्राणियों का बंधन। पुनः इसी अर्थ में समस्त संसार को ईश्वर की शक्ति तथा संकल्प की अभिव्यक्ति माना जा सकता है, तथा ईश्वरवाद की स्थिति का समर्थन किया जा सकता है। दूसरी ओर, क्योंकि एकमात्र शिव ही एक परम तत्व है उसके अतिरिक्त कुछ भी होना सम्भव नहीं, इस प्रणाली की व्याख्या शंकर की व्याख्या के समान शुद्ध अद्वैतवाद के रूप में की गई है, जहाँ विविध सांसारिक पदार्थ अनेकता के आभासमात्र के रूप में प्रकट होते हैं, जबकि यथार्थ में केवल शिव का ही अस्तित्व है। इसी आधार पर सूत्र-संहिता के यज्ञ वैभव अध्याय में शिवाद्वैत-प्रणाली की व्याख्या की गई है।

ईश्वर की शक्ति एक है, यद्यपि विभिन्न संदर्भों में यह अनंत तथा अनेक प्रतीत हो सकती है। यही शुद्ध शक्ति, शुद्ध संकल्प तथा बल के समरूप है। माया के परिवर्तनों की व्याख्या सृष्टि के द्वारा जीवों के लाभ के लिए ईश्वर के अनुग्रह के विस्तार के रूप में की गई है। ज्ञान के रूप में ईश्वर शिव कहलाता है तथा कर्म के रूप मे शक्ति कहलाता है। जब दोनों का सतुलन हो जाता है, तब हमें सदाशिव प्राप्त होता है। जब कर्म की प्रबलता होती है तब यह महेश्वर कहलाता है।

इस प्रणाली में कर्म-सिद्धांत सामान्यतः वैसा ही है जैसाकि बहुत सी अन्य प्रणालियों में है। यह सामान्यतः बहुत अंशों में सांख्य-सिद्धांत से सहमत है, परंतु सदाशिव आदि पांच तत्व अन्य कहीं नहीं पाए जाते हैं, तथा ये केवल पौराणिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण हैं।

'शिव-ज्ञान-सिद्धियर' केवल सदाचरण, शिष्ट संभाषण, सद्भाव, मैत्री, निर्दोष संयम, दया, सम्मान, श्रद्धा, सत्यता, ब्रह्मचर्य, आत्म-संयम, विवेक आदि नियमों का ही प्रतिपादन नहीं करता, वरन् ईश्वर के प्रति प्रेम तथा उसकी भक्ति की आवश्यकता पर भी बल देता है।

वीरशैवमत के मूलाधार श्रीकरभाष्य में श्रीपति पंडित के वेदान्त सिद्धांत।

श्रीपति पंडित चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे तथा ब्रह्मसूत्र पर अन्तिम टीकाकारों में एक थे। श्रीपति पंडित का कथन है कि उन्हें ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने की प्रेरणा अगस्तयवृत्ति नामक निबन्ध से मिली जो अब प्राप्त नहीं है। उनकी रैवण के प्रति भक्ति है, जिनको उन्होंने पंथ का महान् संत माना है, तथा मरुल के प्रति भी भक्ति है, जो पट्स्थल-सिद्धांत के प्रतिपादक माने जाते है। वे राग की भी भक्ति करते हैं जो द्वापर युग में विद्यमान थे तथा जिन्होंने परंपरा से आए शैवमत की स्थापना के लिए मीमांसा तथा उपनिषदों के मुख्य तत्वों का संकलन किया।

श्रीकर-भाष्य को भिन्न श्रुतियों तथा स्मृतियों के विचारों के निश्चित वर्गीकरण-कर्ता के रूप में माना जाना चाहिए, तथा इसका मुख्य श्रेय राम को देना चाहिए। परंतु, यद्यपि यह रचना वेदांत के द्वैत अथवा अद्वैत विचारों की व्याख्या से स्वयं को पृथक् रखती है, तथापि यह एक ऐसे सिद्धांत को मानती है जिसको विशिष्टाद्वैत कहा जा सकता है, तथा यहां प्रतिपादित सिद्धांत के मतों में वीरशैव कहलाने वाले शैवों का भी समर्थन मिलता है। यह स्मरण रखना है कि श्रीपति रामानुज के पर्याप्त समय बाद हुए तथा उनके लिए यह सम्भव था कि उन्होंने कुछ विचार रामानुज के विचारों से लिए हों।

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र की अपनी व्याख्या में शंकर ब्रह्मन् के प्रति जिज्ञासा की आवश्यकता की ओर अग्रसर करने वाली स्थिति को महत्व देते हैं, तथा रामानुज भी इसी प्रश्न का विवेचन करते हैं एवं उनके विचार से, पूर्व मीमांसा तथा वेदांत दोनों एक ही अध्ययन के विषय हैं, परंतु श्रीपति यहाँ इस प्रश्न को छोड़ देते हैं, तथा बतलाते हैं कि इस सूत्र का उद्देश्य ब्रह्मन् के स्वरूप तथा उसके सत् अथवा असत् होने के विषय में जिज्ञासा उपस्थित करने का है। उनके अनुसार इस सूत्र का उद्देश्य ब्रह्मन् के जीवों पर प्रभाव के अन्वेषण में भी है।

श्रीपति ने पूर्व मीमांसा तथा वेदांत दोनों अनुशासनों को एक ही विज्ञान के रूप में स्वीकार किया परंतु चार्वाक के इस सिद्धांत का कि जीवन भौतिक संयोगों द्वारा ही उत्पन्न है, उन्होंने अत्यधिक विरोध किया। वह यह स्पष्ट करते हैं, कि चार्वाक के ब्रह्मन् की सत्ता को नकारने की बात इस मान्यता पर आधारित है कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता हैं यह बताने के लिए, दूसरे संसार से कोई नहीं आया है। श्रीपति यह भी इंगित करते हैं कि वैदिक शाखाओं में कुछ ऐसे सम्प्रदाय भी हैं, जो ईश्वर के अथवा

जीवों पर उसकी शक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, तथा जिनके विचारानुसार प्राग्वैदिक भाषा में 'अपूर्व' कहलाने वाली कर्म की शक्ति द्वारा ही मनुष्यों के सुखों व दुःखों की व्याख्या की जा सकती है। अतः यदि शरीर तथा आत्मा को एक ही माना जाय अथवा व्यक्ति के कर्मों के उचित रूप से फलित होने के लिए ईश्वर की आवश्यकता न मानी जाय, तो वेदांत के अध्ययन के इन दो प्रयोजनों की आवश्यकता नहीं रह जाती।

अतः इस जिज्ञासा की उत्पत्ति करने वाला संशय कहीं अन्यत्र स्थित होना चाहिए अर्थात् भगवान् शिव के अथवा जीवों के स्वरूप के प्रति होना चाहिए। केवल भगवान् शिव के अस्तित्व को यथार्थ मानने की घोषणा अनेक वैदिक ग्रंथों में की गई है। हमारी आत्मचेतना में अभिव्यक्त होने वाली आत्मा भी भिन्न सत्ता के रूप में ज्ञात है। ऐसा होने पर संशय किस प्रकार उदित हो सकता है? इसके अतिरिक्त ब्रह्मन् का स्वरूप हम केवल तर्क द्वारा ज्ञात नहीं कर सकते, क्योंकि अनित्य आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने से नित्य ब्रह्मन् के स्वरूप का बोध संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् घोषित करते हैं कि ब्रह्मन्, चेतन तथा अचेतन दो प्रकार का है। अतः ब्रह्म ज्ञान होने के उपरांत भी अचेतन ब्रह्मन् का ज्ञान शेष रह जाता है इसलिए मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकेगा।

दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि तर्क का उद्देश्य इसका निश्चित ज्ञान प्राप्त करना है कि क्या ब्रह्मन् व आत्मा एक है। उसके समर्थन के लिए अनेक ग्रंथ हैं, परंतु फिर भी हमारी स्वयं की आत्म चेतना हमें व्यक्तियों के रूप में अभिव्यक्त करती है इससे विरोध उत्पन्न होता है। इसका सामान्य उत्तर यह है कि हमारी अहं-चेतना की पृथक् सत्ता हमें सदैव इस बात की ओर प्रवृत्त करेगी कि हम आत्मा और ब्रह्मन् के तादात्म्य का कथन करने वाले उपनिषदीय शास्त्रों को गलत समझें। परंतु दूसरी ओर यह भी उत्तर हो सकता है कि अविद्या द्वारा ब्रह्मन् हमारे व्यक्तित्व के आभास की सृष्टि करता है और हमें यह आभास होता है कि 'मैं एक पुरुष हूँ।' क्योंकि ऐसे सर्व-व्यापी भ्रम के बिना मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसके अलावा शुद्ध ब्रह्म तथा समस्त जागतिक पदार्थ परस्पर उतने ही भिन्न हैं, जितना प्रकाश से अंधकार, फिर भी ऐसा भ्रम स्वीकार करना ही पड़ता है। क्योंकि अन्यथा समस्त सांसारिक व्यवहार ही समाप्त हो जाएगा। अतः ब्रह्मन् के निश्चित स्वरूप, जीव तथा संसार के सच्चे स्वरूप के अन्वेषण के लिए कदाचित् ही कोई स्थान रह जाता है। क्योंकि उस परात्पर ब्रह्मन् की अनंत सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है, जिसका शब्दों से वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः ब्रह्मन् समस्त तर्कों से परे है।

ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा, अनुमान प्रमाण द्वारा तथा उपनिषद् एवं श्रुति के प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के विषय में श्रीपति प्रथम

प्रश्न प्रतिपादित करते हैं। हमें अनुभव द्वारा ज्ञात है कि प्रतिभा, योग्यता तथा धन आदि युक्त होते हुए भी कुछ मनुष्य अपने लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते, जबकि सब कुछ न होते हुए भी अन्य मनुष्य सफल हो जाते हैं। श्रीपति के अनुसार यह निश्चित रूप से एक सर्वज्ञ प्रभु के अस्तित्व तथा मानव जाति से उसके संबंधों को प्रमाणित करता है। साधारण अनुभव में जब हम किसी मंदिर को देखते हैं तब हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इसका कोई निर्माता होगा। इसी प्रकार संसार के दृष्टांत में भी हम यह कल्पना कर सकते है कि इसका कोई निर्माता अवश्य ही होगा। चार्वाक का यह तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता कि पदार्थों के संयोग से वस्तुएँ इसी में से उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि हमने कभी पदार्थों के संयोग से ऐसे जीव का उत्पन्न होना नहीं देखा जैसा हम पक्षियों अथवा पशुओं में पाते हैं। जहाँ तक गोबर आदि के दृष्टांत का प्रश्न है उनमें किसी प्रकार कुछ जीव पड़ गए होंगे जिससे कि उनसे मक्खियों तथा कीटाणुओं का जन्म हो सके। यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्ति के कर्मानुसार ईश्वर दंड अथवा पुरस्कार प्रदान करता है तथा कर्म स्वतः फलित नहीं होते, वरन् ईश्वर की इच्छानुसार फलित होते हैं।

कुछ उपनिषदों में ऐसा कहा गया है कि प्रारम्भ में कुछ भी नहीं था, परंतु इस कुछ नहीं को अस्तित्व की एक सूक्ष्म अवस्था माना जाना चाहिए, क्योंकि अन्यथा समस्त वस्तुएँ कुछ नहीं में से उत्पन्न नहीं होतीं। उपनिषदों में उल्लिखित इस असत का अर्थ आकाश माल के समान केवल अभाव मात्र अथवा असंभव कल्पना मात्र नहीं है। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में भी शुद्ध निषेध के इस विचार का खंडन किया है (२-१-७)। वास्तव में वेद तथा आगम, अनन्त शक्तियों के साथ भगवान शिव को सूक्ष्म अथवा स्थूल संसार का कारण घोषित करते हैं। किन्तु मनुष्य ब्रह्मन् से अत्यंत भिन्न हैं, क्योंकि मनुष्य सदैव अपने पापों तथा दुःखों से पीड़ित रहते हैं। जब उपनिषद् यह कहते हैं कि ब्रह्मन् जीव से एक है तब स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इन दोनों में परस्पर सर्वथा भिन्न होते हुए भी किस प्रकार तादात्म्य माना जा सकता है ?

श्रीपति का विचार है कि जीव का ब्रह्मन् से तादात्म्य बताने वाले औपनिषद वाक्यों का तात्पर्य इस सादृश्य के आधार पर समझा जा सकता है जिस प्रकार सरिताओं का सागर में प्रवेश होकर उससे एक हो जाने की बात समझी जा सकती है। हमें एक 'भ्रम' की कल्पना की आवश्यकता नहीं है, जैसाकि शंकर मानते हैं। भ्रम के बिना मोक्ष की समस्या उदित नहीं हो सकती। क्योंकि जब हम यह कहते हैं कि 'हमें ज्ञात नहीं' तब हमें अज्ञान का प्रत्यक्ष लक्षण अनुभव होता है।

शंकर के इस विचार का श्रीपति दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं कि चित् स्वरूप वाला एक भेद-रहित ब्रह्मन् है जो विभिन्न प्रकार के स्वरूपों में प्रकट होता है। ब्रह्मन्

जीवों से सर्वथा भिन्न-स्वरूप है। यदि ब्रह्मन् में अविद्या का गुण मान लिया जाए तो वह ब्रह्मन् नहीं रह जाएगा। इसके अतिरिक्त, ऐसी किसी अविद्या से उस ब्रह्मन् को विभूषित नहीं किया जा सकता, जिसका प्राय: श्रुति ग्रंथों में, शुद्ध तथा विचार रहित अथवा मन से रहित के रूप में वर्णन किया गया है। यदि अविद्या को ब्रह्मन् में माना जाए, तो हमें मोक्ष के लिए इस अविद्या को हटाने के लिए किसी दूसरी सत्ता को मानना होगा। ब्रह्मन् स्वयं इसको खोज कर धारित नहीं सकता क्योंकि एक क्षण में विद्या से घिरा तथा दूसरे क्षण में उससे मुक्त होने के कारण यह एक समान रूप में अपना निरपेक्ष तादात्म्य नहीं रख सकेगा। संसार का स्वप्न के समान भ्रमात्मक प्रत्यक्षों से निर्मित होने का विचार भी दोषप्रद है, क्योंकि संसार में एक निश्चित क्रम तथा व्यवस्था है जिसका उल्लंघन नही किया जा सकता। बादरायण स्वयं भी बाह्य संसार के अस्तित्व के न होने के विचार का खंडन करते हैं (२-२-२७-२८)। इसके अतिरिक्त, भेदरहित ब्रह्मन् के अस्तित्व को, केवल शब्द-प्रमाण व अनुमान के प्रमाण पर ही सिद्ध किया जा सकता है, परंतु क्योंकि ये दोनों भी हमारे भेदयुक्त विचारात्मक संसार के अंतर्गत सम्मिलित हैं, अतः ये हमें उनसे परे अग्रसर नहीं कर सकते और न भेदरहित ब्रह्मन् के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि वेदों के सत्य को स्वीकार किया जाय, तब द्वैत की स्थापना हो जाएगी, तथा यदि उसे स्वीकार नहीं किया जाय, तब ब्रह्म की एकमात्र सत्ता को सिद्ध करने के लिए कुछ नहीं रहेगा। इसके अलावा, ऐसा कुछ प्रमाण नहीं है जिससे संसार के भ्रम को सिद्ध किया जा सके। अविद्या स्वयं यथेष्ट प्रमाण नहीं मानी जा सकती क्योंकि ब्रह्मन् स्वयं-प्रकाश माना जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे ब्रह्मन् की स्वीकृति का अर्थ एक ऐसे सगुण ईश्वर की अस्वीकृति होगा जिसका समर्थन गीता सहित अनेक धर्म ग्रंथों ने किया है।

उपनिषदों के वे वचन, जो संसार को नाम तथा रूप से निर्मित मानते हैं, आवश्यक रूप से इस विचार की सिद्धि नहीं करते कि केवल ब्रह्मन् ही सत्य हैं तथा संसार मिथ्या है। क्योंकि यही उद्देश्य शिव को संसार का उपादान कारण मान कर प्राप्त किया जा सकता है, जिसका यह अर्थ नहीं कि संसार मिथ्या है। सम्पूर्ण आशय यह है कि जिस रूप में भी संसार प्रकट हो, यह यथार्थ में शिव के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[1]

जब बादरायण कहते हैं कि संसार को ब्रह्मन् से भिन्न नहीं किया जा सकता तब उसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि ब्रह्मन् से उत्पन्न अनेक रूप संसार उससे अभिन्न है।

---

[1] वाचारंभणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतो अपवाद दर्शनादध्यासो ग्राह्य इति चैन न। वाचारंमण-श्रुतीनां शिवोपादानत्वात् प्रपंचस्य तत्तादात्म्य बोधकत्वं विधीयते न च मिथ्यात्वम्। —श्रीकर-भाष्य, पृ० ६।

संसार को ब्रह्मन् का शरीर नहीं माना जा सकता तथा शास्त्र यह घोषणा करते हैं कि आरम्भ में केवल शुद्ध भाव का ही अस्तित्व था। यदि ब्रह्मन् से अन्य किसी को भी स्वीकार किया जाय तब शुद्ध अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। क्योंकि दोनों परस्पर सर्वथा विरोधी है, अतः एक को दूसरे का भाग स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा दोनों का किसी प्रकार भी तादात्म्य नहीं किया जा सकता। अतः सामान्य मार्ग यही होगा कि शास्त्रों की व्याख्या ब्रह्मन् के साथ द्वैत तथा अद्वैत दोनों मानते हुए की जाए। इस प्रकार ब्रह्मन् संसार से भिन्न तथा अभिन्न दोनों है।

श्रीपति का विचार है कि श्रुति पाठों के आधार पर, एक ब्राह्मण को, वैदिक कर्म-काण्डों में दीक्षित होने के कारण, जितना सम्भव हो, शैव प्रकार की दीक्षा लेना, तथा शैव चिह्न अर्थात् लिंग धारण करना आवश्यक है। इसके उपरांत ही वह व्यक्ति उस ब्रह्मन् के स्वरूप के अध्ययन का अधिकारी हो सकता है जिसके लिए ब्रह्म-सूत्र लिखा गया है।[1] ब्रह्मन् के स्वरूप की जिज्ञासा आवश्यक रूप में हमें ब्रह्मन् के स्वरूप के विषय में समस्त प्रकार के तर्कों से परिचित कराती है।

यद्यपि श्रीपति लिंग धारण करने तथा शैव प्रकार की दीक्षा लेने की आवश्यकता को प्रमुखता देते हैं, तथापि केवल उससे ही मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है जब हमें ब्रह्मन् के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो। ब्रह्मन् के स्वरूप के लिए तर्क उपस्थित करते हुए श्रीपति आगे कहते हैं कि जहाँ भी शास्त्रों ने ब्रह्मन् की व्याख्या भेदरहित एवं निर्गुण के रूप में की है, वहाँ सदैव उनका तात्पर्य सृष्टि के पूर्व काल से रहा है। भेदरहित शिव ही अपनी शक्ति के विस्तार द्वारा संसार की सृष्टि करता है तथा उसके वर्तमान रूप में उसे प्रकट करता है, वैसे उसके सतत आधार के रूप में सर्वदा शिव विद्यमान रहता है। इस प्रकार संसार भ्रम नहीं वरन् सत्य है, तथा स्वयं शिव स्वरूप है। जैसाकि हम देखेंगे यही एक मुख्य विचार है जिसका अविकतः विस्तार किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मन् दो रूपों में प्रतीत होता है–शुद्ध चेतन रूप में एवं अचेतन भौतिक संसार के रूप में तथा इस विचार का शास्त्रों के

---

[1] श्रीकर-भाष्य पृ० ८। धार्मिक शास्त्र ग्रंथों के प्रमाण पर श्रीपति शिव के चिह्न लिंग के, उस विशेष विधि से धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता विस्तार से प्रतिपादित करते हैं तथा यह बतलाते हैं कि यह लिंग धारण उस लिंग से भिन्न है जिसका निषेध वेदादि में है।

श्रीपति इंगित करते हैं कि लिंग के लिए केवल वही व्यक्ति योग्य है, जो साधना–सम्पद नामक उन चार उप साधनों से युक्त है, जिनमें शम, दम, तितिक्षा, उपरति, मुमुक्षत्व आदि सम्मिलित हैं।

वचनों से समर्थन किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मन् निराकार तथा साकार है। यह शुद्ध ब्रह्मन् ही है जो दुःख-सुख, कारण-कार्य तथा अनेक परिवर्तनशील सत्ताओं के रूप में होता है। ऐसी व्याख्या हमारे अनुभवों के अनुरूप होगी तथा इसका शास्त्रों से भी पूर्णतः सामंजस्य होगा।

विरोधियों का यह तर्क भी कि ईश्वर भ्रमात्मक है, अमान्य है क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक भ्रमात्मक पदार्थ के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए उस पर विश्वास नहीं कर सकता। ऐसे ईश्वर का वही स्तर होगा जो किसी अन्य भ्रमात्मक पदार्थ का का होगा। इसके अतिरिक्त भक्त द्वारा पूजित, सम्मानित होकर ईश्वर उसका उपकार कैसे कर सकता है यदि वह भ्रमात्मक है।

इसके उपरांत श्रीपति शुद्ध भेदरहित ब्रह्मन् के विचार के खंडन का प्रयास करते हैं तथा प्रस्तुत रचना के तृतीय भाग में रामानुज के उन तर्कों का, जिनका वर्णन हमने किया है, संक्षिप्त विवरण देते है, इस प्रकार हमारा द्वितीय सूत्र से परिचय कराया जाता है जिसमें ब्रह्मन् का उस तत्व के रूप में वर्णन है जिसमें से संसार की उत्पत्ति हुई है।

ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर टीका करते हुए, श्रीपति कहते हैं कि सत् एवं आनंद के तादात्म्य के रूप में शुद्ध चित् संसार की सृष्टि तथा संहार का कारण हैं, तथा साथ ही उसका मूल आधार है। निराकार ब्रह्मन् बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के समस्त वस्तुओं की सृष्टि कर सकता है, जिस प्रकार निराकार वायु जंगल को हिला सकती है अथवा आत्मा स्वप्नों की सृष्टि कर सकती है। जिन समस्त आकारों में हम ईश्वर को पाते हैं, उन्हें ईश्वर, भक्त के लाभ के लिए धारण करता है।[1] वह भेदाभेद सिद्धान्त के समान प्रजार के कुछ शास्त्रों के वचनों का भी उल्लेख करते हैं जो ईश्वर तथा संसार का संबंध सागर तथा लहरों के समान मानते हैं। ईश्वर का केवल एक भाग भौतिक संसार के रूप में रूपांतरित माना जा सकता है। इस प्रकार शिव, निमित्त तथा उपादान कारण, दोनों है। इन दोनों विचारों में अन्तर समझना आवश्यक है एक तो यह कि निमित्त कारण तथा उपादान कारण में कोई अन्तर नहीं है और दूसरा यह कि दोनों कारणों के रूप में वही है।[2] मिथ्या अध्यास का कोई प्रश्न नहीं उठता है।

---

[1] भक्तानुग्रहार्थ धृत काठिन्यवद्-दिव्य-मंगल-विग्रह धरस्य महेश्वरस्य मूर्तामूर्त-प्रपंच-कल्पने अप्यदोष।

—श्रीकर-भाष्य, पृ० ३०।

[2] तस्मादभिन्न-निमित्तोपादान-कारणत्वं न तु एक कारणत्वम्।

—श्रीकर-भाष्य, पृ० ३०।

उपनिषदों में जीव ईश्वर के समान ही नित्य कहे गए हैं। शास्त्र प्रायः संसार का वर्णन ईश्वर के एक भाग के रूप में करते हैं। सृष्टि से पूर्व जब ईश्वर की शक्तियाँ संकुचित रूप में होती हैं केवल तब ही ईश्वर निर्गुण कहला सकता है।[1] ऐसे अनेक उपनिषदीय गद्यांश हैं जो ईश्वर की अवस्था को सृष्टि के कार्य में संलग्नता के रूप में वर्णित करते है, तथा इसके फलस्वरूप उसकी शक्तियाँ अभिव्यक्त होती प्रतीत होती है। यह सत्य है कि अनेक शास्त्रों में माया संसार के उपादान कारण के रूप में तथा ईश्वर निमित्त कारण के रूप में वर्णित है। इसका यथेष्ट स्पष्टीकरण हो जाता है, यदि हम माया को ईश्वर का एक भाग मान लें। जिस प्रकार एक मकड़ी स्वयं में से पूर्ण जाला बुन लेती है उसी प्रकार ईश्वर स्वयं में से सम्पूर्ण संसार की सृष्टि करता है। इस कारण यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भौतिक संसार तथा शुद्ध चैतन्य का एक ही कारण है। इस विषय में, शंकर के इस सिद्धांत का कि संसार भ्रम अथवा अध्यास है, खंडन करने का श्रीपति कठोर प्रयत्न करते हैं। यदि हम भ्रम के सिद्धांत के विरोध में माधव तथा उसके अनुयायियों के उन तर्कों का स्मरण करें, जिनकी व्याख्या प्रस्तुत रचना के चतुर्थ अध्याय में की गई है, तो श्रीपति की आलोचनाएँ किसी न किसी रूप में, उनमें अन्तर्भूत हो जाएगी। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि शंकर के विचारों पर रामानुज, निम्बार्क तथा माधव ने आपत्ति की थी।

श्रीपति कहते हैं कि संसार के तथाकथित मिथ्या रूप की व्याख्या न तो अनिर्वाच्य कहकर और न विरोधात्मक कहकर की जा सकती है, क्योंकि तब वह वेदों पर भी प्रयुक्त होगा। 'विरोधात्मक' शब्द, अनेक रूप संसार के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि यह अस्तित्वगत है, हमारी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, तथा हमारे कार्यों के लिए अवसर प्रदान करता है। जहाँ तक हम समझते हैं यह अनादि है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि, किसी भविष्य काल में अथवा वर्तमान समय में, संसार को मिथ्या सिद्ध किया जा सकेगा। प्रायः यह कहा गया है कि मिथ्या का अर्थ बिना किसी यथार्थता के किसी वस्तु का आभास है, जिस प्रकार मृग-जल है जो जल के समान आभासित होता है परंतु जल के प्रयोजन की पूर्ति नहीं करता। परंतु संसार केवल आभासित ही नहीं होता वरन् यह हमारे समस्त उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है। पुराणों तथा अन्य शास्त्रों के वे समस्त वचन जिनमें संसार को माया कहा गया है केवल विभ्रमात्मक कथन हैं। अतः केवल ईश्वर ही संसार का निमित्त तथा आधारभूत कारण है तथा संसार अपने आप में मिथ्या नहीं है जैसाकि शंकर के अनुयाई मानते हैं।

इसी प्रकार यह कल्पना भी अमान्य है कि ईश्वर अथवा जीव एक ऐसी सत्ता का

---

[1] शक्ति-संकोचतया सृष्टेः प्राक्
परमेश्वरस्य निर्गहात्वात्। —तत्रैव, पृ० ३१।

प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अविद्या अथवा माया द्वारा प्रतिविम्बित ब्रह्मन् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। तथाकथित परावर्तनकर्त्ता माध्यम उपाधिरूप अथवा स्वाभाविक हो सकता है। ऐसी उपाधि माया, अविद्या अथवा अंतःकरण हो सकता है। यह उपाधि स्थूल नहीं हो सकती है क्योंकि उस स्थिति में दूसरे लोक में पुनर्जन्म सम्भव नहीं होगा। प्रतिविम्ब का विचार भी अमान्य है क्योंकि ब्रह्मन् वर्णरहित है इस कारण इसका प्रतिबिम्ब ईश्वर बन गया ऐसा नहीं माना जा सकता। जो निराकार है, वह प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता। पुनः, यदि ईश्वर अथवा जीव को माया अथवा अविद्या में एकमात्र प्रतिविम्ब माने, तब माया अथवा अविद्या के विनाश का अर्थ, ईश्वर तथा जीव का भी नष्ट होना होगा। इसी प्रकार, श्रीपति उस अवच्छेदवाद का खंडन करने का प्रयत्न करते हैं, जिसके अनुसार बुद्धि से विशिष्ट या वस्तुगत रूप से अवच्छिन्न शुद्ध चित् ही जीव है; क्योंकि उस स्थिति में किसी भी प्रकार की चेतना द्वारा अवच्छिन्नता जो हम समस्त भौतिक पदार्थों में पाते हैं, उन्हें जीवों की स्थिति में समझे जाने के योग्य कर देती है।

सृष्टि व संहार आदि के गुण ब्रह्मन् के नहीं अपितु संसार के हैं। तब फिर संसार की सृष्टि व संहार को, जिनका उद्‌गम ईश्वर है, ब्रह्मन् का स्वरूप लक्षण किस प्रकार कहा जा सकता है? उत्तर है कि इसे एक स्वरूप लक्षण नहीं माना जा सकता, परंतु इसे केवल संसार के उद्‌गम होने का लक्षण मानना चाहिए, जिससे यदि कोई संसार न भी हो, तब भी उससे ईश्वर के अस्तित्व की यथार्थता पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। प्रस्तुत परिभाषा (१-१-२) को स्वरूप लक्षण नहीं अपितु तटस्थ-लक्षण कहने का यही अर्थ है। केवल शिव संसार का स्रष्टा है, संसार का उसमें पालन होता है, तथा संसार उसमें पुनः लय हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र १-१-३ पर टीका करते हुए श्रीपति परंपरागत धारा का अनुसरण करते हैं परन्तु यह मानते हैं कि वेद, ईश्वर अर्थात् शिव द्वारा रचित थे, तथा वेदों के समस्त मूल ग्रंथों का निश्चित उद्देश्य शिव का यशःकीर्त्तन है। निःसन्देह यह मीमांसा के इस विचार के विरुद्ध है कि वेद अनंत तथा अपौरूषेय हैं, परन्तु यह शंकर की इस व्याख्या से सहमत हैं कि वेदों की रचना ईश्वर ने की थी। शंकर की प्रणाली में ईश्वर माया द्वारा ब्रह्मन् के प्रतिविम्ब से निर्मित केवल एक परम भ्रम है। हम पहले ही वतला चुके हैं कि श्रीपति इस विचार को सर्वथा भ्रांतिमूलक मानते हैं। उनके लिए ईश्वर अथवा महेश्वर का अर्थ परम ईश्वर है। आगे श्रीपति कहते हैं कि ब्रह्मन् के स्वरूप का वोध केवल वाद-विवाद अथवा तर्क द्वारा नहीं हो सकता वरन् उसका ज्ञान केवल वेदों के प्रामाण तथा साक्ष्य द्वारा ही हो सकता है। वह आगे कहते हैं कि शिव द्वारा पुराणों की रचना वेदों से पूर्व ही हुई थी तथा समस्त पुराणों में से शिव-महापुराण सबसे अधिक प्रमाणिक है। अन्य पुराण, जो विष्णु अथवा नारायण का यशोगान करते हैं, निम्न स्तर के हैं।

ब्रह्मसूत्र १-१-४ पर टीका करते हुए श्रीपति कहते हैं कि मीमांसा का मत है कि ब्रह्मन् के स्वरूप की उपनिषदीय व्याख्या मनुष्यों को किसी प्रकार के चिंतन के लिए प्रेरित करने के अर्थ में नहीं करनी चाहिए। वे केवल ब्रह्मन् के स्वरूप का वर्णन करती हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य ब्रह्मज्ञान है। श्रीपति की यह व्याख्या शंकर के विचार के लगभग समान ही है। वे आगे कहते हैं कि ब्रह्मन् के स्वरूप का ज्ञान केवल उपनिषदों द्वारा ही हो सकता है। किसी भी प्रकार का अनुमान अथवा सामान्य स्वीकृति इस तथ्य को सिद्ध नहीं कर सकती कि ईश्वर एक है जो संसार का स्रष्टा है। मानव जाति द्वारा निर्मित सभी वस्तुओं के, जैसे, मंदिर, महल अथवा पत्थर के गृह, निर्माण में अनेक व्यक्तियों का सहयोग होता है। अतः हम इस तथ्य से यह तर्क नहीं कर सकते कि क्योंकि कुछ वस्तुओं का निर्माण हुआ है अतः एक स्रष्टा है जो उनकी सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। यह न्याय विचार तथा अनेक शैवागमों के इस विचार का खंडन है कि ईश्वर का अस्तित्व अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

वह आगे कहते हैं कि ब्रह्मन् में वह शक्ति है जिससे वह स्वयं को अभिव्यक्त करता है, तथा जिसमें अनेकता, भेद अथवा ऐक्य हैं। हम बल अथवा शक्ति को शक्तिमान् से पृथक् नहीं कर सकते। इस प्रकार ब्रह्मन् को शक्ति तथा समस्त शक्तियों का भंडार, दोनों माना जा सकता है। जब तक तत्व नहीं होगा तब तक कोई शक्ति नहीं हो सकती। अतः ब्रह्मन् तत्व तथा शक्ति दोनों रूपों में स्थित है।[1] यह नहीं कहा जा सकता कि केवल ज्ञान हमें कर्म के लिए प्रेरित नहीं कर सकता, क्योंकि जब कोई अपने पुत्र अथवा सम्बन्धी के विषय में शुभ अथवा अशुभ समाचार सुनता है तब वह कर्म के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार ब्रह्मन् का शुद्ध ज्ञान भी हमें उसके चिंतन के लिए प्रवृत्त कर सकता है, अतः मीमांसी का यह तर्क मिथ्या है कि ब्रह्मन् के वर्णन में कर्म का विधान आवश्यक है एवं एक अस्तित्वगत सत्ता के केवल वर्णन का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है।

श्रीपति मीमांसा के इस तर्क का खंडन करने के लिए भी विशेष प्रयत्न करते हैं कि वेद केवल अस्तित्वगत सत्ता के विषय में कोई जानकारी मात्र नहीं देते क्योंकि उसका कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है। श्रीपति कहते हैं कि चैतन्य की शुद्ध शक्ति अविद्या द्वारा छिपी हुई है। यह अविद्या भी ब्रह्मन् की स्वाभाविक शक्ति है तथा ब्रह्मन् के अनुग्रह से यह अविद्या अपने कारण में विलीन हो जाएगी। अतः अविद्या का

---

[1] भेदाभेदात्मिका शक्तिर्ब्रह्म-निष्ठा सनातनी, इति स्मृतौ शक्तेऽर्वहित-शक्तेरिव ब्रह्माधिष्ठानत्वोपदेशात्। निरधिष्ठान-शक्तेऽभावात् च शक्ति-शक्तिमतोर अभेदाच्च तत्कर्तृत्वं तदात्माकत्वं तस्यैवोपपन्नत्वात्।

—श्रीकर-भाष्य, पृ० ४५।

आभा समान द्वैत मिथ्या है तथा ब्रह्मन् के स्वरूप में वर्णन का यथार्थ व्यावहारिक मूल्य है, क्योंकि यह हमें ऐसा आदेश देता है कि ईश्वर के उस अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। केवल उसके द्वारा ही बंधन हटाए जा सकते हैं। केवल उपनिषदों के अध्ययन द्वारा नहीं वरन् ईश्वर के अनुग्रह तथा अपने गुरु के अनुग्रह द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार हो सकता है।

श्रीपति का कथन है कि नित्य तथा नैमित्तिक कर्म आवश्यक है, केवल काम्य कर्मों को अर्थात् वे कर्म जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं, कामना की पूर्ति के विचार से रहित होना चाहिए। जब मनुष्य वेदांत ग्रंथों का श्रवण करता है, तथा स्वयं को पूर्ण रूप से शिव को समर्पित करता है, केवल तब ही हृदय शुद्ध होता है तथा शिव के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

श्रीपति पुनः संसार के मिथ्यात्व सिद्धांत के विरोध में अपने आरोप को दोहराते हैं। वे कहते हैं कि चूंकि उपनिषद् यह घोषणा करते हैं कि संसार की समस्त वस्तुएँ ब्रह्मन् हैं, अतः संसार भी ब्रह्मन् है तथा मिथ्या नहीं हो सकता। हमारे सम्मुख, संसार में प्रत्यक्ष किया जाने वाला बंधनकारी वह समस्त क्षेत्र तब लुप्त हो जाएगा जब हमें शिव से अपने ऐक्य का ज्ञान हो जाएगा। क्योंकि उस स्थिति में विभिन्न वस्तुओं से पूर्ण तथा अनेक के रूप में विद्यमान संसार का आभास लुप्त हो जाएगा क्योंकि जो कुछ हम देखेंगे वह शिव ही होगा। इस प्रकार ब्रह्मन् समस्त संसार का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों है तथा इसमें कहीं भी कुछ मिथ्यात्व नहीं है। संसार केवल शून्य अथवा भ्रममात्र नहीं हो सकता। संसार का एक आधार होना आवश्यक है तथा यदि भ्रम आधार से भिन्न माना जाएगा तो उसमें द्वैत दोष हो जाएगा। यदि संसार के तथाकथित अस्तित्वशून्य होने का केवल यही अर्थ होता कि यह आकाश-कमल के समान काल्पनिक है तब संसार के लिए किसी को भी कारण माना जा सकता था।

यह माना जा सकता है कि शंकर के अनुयाई संसार को सर्वथा मिथ्या नहीं मानते वरन् इसकी व्यावहारिक सत्ता मानते हैं (व्यावहारिक मात्र सत्यत्वम)। किन्तु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उसका स्वरूप क्या है, जो केवल व्यावहारिक है, क्योंकि इस स्थिति में ब्रह्मन् व्यावहारिक से परे होगा तथा कोई भी इसके विषय में प्रश्न अथवा उत्तर नहीं करेगा वरन् केवल मूक बना रहेगा। यदि संसार के अनेकरूप आभासों के पीछे कोई तत्व न होता तो संसार बिना आधार के एक चित्रों की पंक्ति मात्र होता। यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि उपनिषद् भेदरहित ब्रह्मन् का उल्लेख नहीं कर सकते। यदि कोई ऐसा अनुभव जिसका विरोध हो सके, व्यावहारिक कहलाता है, तब यह साधारण भ्रमों पर भी प्रयुक्त होगा जैसे कि मरुस्थल में जल का आभास, जो प्रातिभासिक कहलाता है। यदि यह माना जाए कि व्याव-

हारिक रीति से विरोध होने का यह अर्थ है कि केवल ब्रह्मन् के ज्ञान होने पर ही विरोध ज्ञान होता है तब प्रथम ज्ञान के द्वितीय ज्ञान द्वारा विरोध के समस्त दृष्टांत विरोध के दृष्टांत ही नहीं माने जाएँगे। शंकर के अनुयायी केवल यही उत्तर दे सकते हैं कि अव्यावहारिक ज्ञान के दृष्टांत में मनुष्य को ब्रह्मन् की अपरोक्ष अनुभूति के साथ ही साथ संसार के मिथ्या होने का ज्ञान भी उदित होता है। परन्तु ऐसा उत्तर अग्राह्य होगा क्योंकि ब्रह्मन् का भेदरहित, के रूप में ज्ञान आवश्यक रूप से उसका भी ज्ञान सम्मिलित करता है, जिससे वह भिन्न है। भेद का विचार भेदारहित्य के विचार का एक भाग है।

न ही व्यावहारिक सत्ता की धारणा का निर्माण इस मान्यता पर हो सकता है कि जिसका विरोध तीन अथवा चार क्रमिक क्षणों में न हो, वह अव्याहत या व्याघातरहित माना जा सकता है क्योंकि यह मान्यता भ्रमात्मक प्रत्यक्षीकरणों पर भी प्रयुक्त हो सकती है। ब्रह्मन् वह है जिसका कभी विरोध नहीं होता तथा यह अव्याघात काल द्वारा सीमित नहीं है।

पुनः यह कभी-कभी माना जाता है कि संसार मिथ्या है क्योंकि यह दृश्य है, परंतु यदि ऐसा होता तब ब्रह्मन् का या तो दृश्य अथवा अदृश्य होना आवश्यक होता। प्रथम स्थिति में वह मिथ्या हो जाता है, द्वितीय स्थिति में इसके विषय में तर्क अथवा प्रश्न नहीं किए जा सकते। इस प्रकार श्रीपति शंकर के संसार के मिथ्या होने के सिद्धांत के विरुद्ध अपनी समालोचना लगभग उसी प्रकार की करते हैं जैसी व्यासतीर्थ ने अपने न्यायामृत में की थी। अतः उनका यहाँ दोहराना निरर्थक होगा क्योंकि उनका विवरण प्रस्तुत रचना के चतुर्थ भाग में पहले ही किया जा चुका है। श्रीपति इस विचार की, कि ब्रह्मन् भेदरहित है, उसी प्रकार की आलोचना करते हैं जैसे कि रामानुज ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य की भूमिका में की है, तथा जिनकी यथेष्ठ विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत रचना के तृतीय भाग में की जा चुकी है।

यह घोषणा करना कि ब्रह्मन् भेदरहित है तथा तब उसकी विशेषताओं के वर्णन का प्रयत्न करना, उदाहरणार्थ यह कहना कि संसार उससे उत्पन्न होता है तथा अंत में उसमें विलीन हो जाता है, निरर्थक होगा। विपक्षियों के अनुसार जो कुछ अस्तित्व-गत माना जाता है वह मिथ्या होगा जो इस मान्यता के अन्तर्गत अग्राह्य है। यदि ऐसा संसार मिथ्या है तब इसको कोई व्यावहारिक मूल्य देना निरर्थक होगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि ब्रह्मन् ज्ञान है अथवा ज्ञान का अभाव? प्रथम स्थिति में विपक्षी के लिए इस ज्ञान के विषय के स्वरूप का वर्णन करना कठिन होगा। दूसरा प्रश्न है कि विपक्षी इस बात को मानने को तैयार है अथवा नहीं कि मिथ्या पदार्थो (जगदाभास) तथा ब्रह्मन् के मध्य का अन्तर यथार्थ है। यदि अन्तर यथार्थ है तब अद्वैत सिद्धांत असफल हो जाता है। यह विधान करने से बचने का मार्ग नहीं

निकलता कि भेद तथा तादात्म्य दोनों के विचार मिथ्या हैं क्योंकि अन्य कोई विकल्प नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्मन् ज्ञान स्वरूप होता तब हम ऐसे ज्ञान के विषय को ज्ञात कर सकने योग्य होते। तब यह भेदरहित ब्रह्मन् के विचार का विरोधी हो जाएगा। बिना किसी विषय के ज्ञान नहीं हो सकता, यदि ज्ञान का विषय हो तब वह उतना ही बाह्य होगा जितना स्वयं ब्रह्मन् है, जिसका अर्थ है कि हमारे समक्ष आभासात्मक नानारूप संसार उतना ही बाह्य है जितना ब्रह्म है। निश्चित विषय के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यदि जगदाभास का व्यावहारिक मूल्य माना जाए, तब उसके मूल में किसी वास्तविक मूल्य का होना भी आवश्यक है, जो अनेक रूप संसार के आभास का आधार होगा। ऐसी स्थिति में वह आधारसत्ता, ब्रह्मन् के अलावा एक अन्य सत्ता होगी तथा उसके एकमात्र सत्ता को चुनौती देगी। इस प्रकार श्रीपति शंकर की इस व्याख्या का खंडन करते हैं कि ब्रह्मन् भेदरहित है तथा जगदाभास मिथ्या है। वह यह भी कहते हैं कि मानव जाति ईश्वर की सत्ता से निम्न है तथा वह भक्ति द्वारा उसके अनुग्रह से उसकी एक झलक देख सकते हैं।

श्रीपति द्वारा प्रतिपादित वीरशैव-दर्शन का मुख्य विचार यह है कि ईश्वर अपनी शक्तियों से अविभाज्य है जिस प्रकार सूर्य का अपनी किरणों से भेद नहीं किया जा सकता। प्रारंभिक अवस्था में जब कोई संसार नहीं था तब केवल ईश्वर ही था तथा चित् अचित्मय नाना रूप संसार उससे सर्वथा अभिन्न, उसमें सूक्ष्म रूप में था। तत्पश्चात्, जब सृष्टि के संकल्प ने उसको गतिमान किया तब उसने जीवित प्राणियों को पृथक् करके उन्हें भिन्न गुणयुक्त बनाया तथा उनको भिन्न प्रकार के कर्मों से संयोजित किया। उसने विविध रूपों में भौतिक संसार की भी अभिव्यक्ति की। अनेक दर्शनों में भौतिक संसार एक संदेहयुक्त सत्ता है। शंकर के अनुसार जगदाभास मिथ्या है तथा उसका केवल व्यावहारिक मूल्य है। वास्तव में इसका अस्तित्व नहीं, वरन् उसके अस्तित्व का केवल आभास होता है। रामानुज के अनुसार संसार अविभाज्य रूप से ईश्वर से संबंधित है तथा पूर्ण रूप से उस पर निर्भर है। श्रीकंठ के अनुसार संसार की सृष्टि ईश्वर की शक्ति द्वारा हुई है तथा उस अर्थ में संसार उसकी एक उपज है, परन्तु श्रीपति कुछ उपनिषदों का उल्लेख करते हैं, जिनमें यह कहा गया है कि ब्रह्मन् चित् व अचित् दोनों हैं। इस प्रकार श्रीपति यह मानते हैं कि जो कुछ संसार में हम देखते हैं वह सत्य है तथा उसका आधार शिव अथवा ईश्वर है। अपनी शक्ति द्वारा ही वह संसार को इतने अधिक रूपों में प्रकट करवाता है। वे शक्तिमान तथा शक्ति के मध्य, विभेद के विचार की निन्दा करते हैं। अतः यदि संसार ईश्वर की शक्ति की एक अभिव्यक्ति है, तब कोई ऐसे प्रतिबंधक नहीं जो इसको स्वयं शिव के स्वरूप का माने जाने से प्रतिबंधित करता हो। श्रीपति कहते हैं कि मोक्ष तब ही प्राप्त हो सकता है जब ईश्वर की पूजा उसके दो प्रकार के भौतिक तथा आध्यात्मिक रूपों में की

जाए। इसके कारण उन्हें लिंग नामक ईश्वर के अनिवार्य अधिकार चिह्न को उपस्थित करना पड़ा। माधव तथा उनके अनुयायियों द्वारा माने हुए मोक्ष की विभिन्न कोटियों के विचार का भी श्रीपति समर्थन करते हैं।

किन्तु यह ध्यान देना होगा कि यद्यपि ईश्वर स्वयं को नाना रूप संसार में रूपांतरित करता है तथापि वह सृष्टि में अपने आपको पूरी तरह नहीं खपा देता वरन् उसका अधिक भाग उससे परे रहता है अनुभवातीत है। इस प्रकार एक पक्ष में संसार के तथ्य की रचना करता हुआ ईश्वर अंतर्व्याप्त है तथा दूसरे पक्ष में वह अनुभवातीत है एवं इस संसार की सीमा से बहुत परे है। तथाकथित माया ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है तथा स्वयं ईश्वर शुद्ध चित् तथा सकल्प का तादात्म्य स्वरूप अथवा कर्म व बल की शक्ति है।

यद्यपि प्रारम्भ में समस्त जीव विशेष प्रकार के कर्मो से संयोजित थे तथापि जब उन्हें भौतिक संसार में जन्म मिला एवं उनसे कर्त्तव्य तथा कर्म करने की आशा की गई तब उन्हें सुख व दुःख का अनुभव उनके कर्मों के अनुसार करना पड़ा। ईश्वर न तो पक्षपाती है और न निर्दयी है, वरन् घूमते हुए चक्रों में मनुष्य को, उनके कर्मो के अनुसार सुख व दुःख प्रदान करता है, यद्यपि कर्म से संयोजन का प्रारंभिक उत्तरदायित्व ईश्वर पर है। श्रीपति का विचार है कि इसमें वह ईश्वर की 'सर्वशक्तिमत्ता' तथा जीव के कर्मानुसार फलों के वितरण के मध्य की खाई को भर सके हैं, जिससे स्वीकृत कर्म सिद्धांत की भी पुष्टि हो जाती है तथा उसका ईश्वर की सर्वतन्त्र स्वतंत्र सर्व-शक्तिमत्ता से भी सामंजस्य हो जाता है। वह यह नहीं देख पाते कि इससे पूरा समाधान नहीं होता क्योंकि प्रारंभिक संयोजन के समय जीव कि भिन्न प्रकार के विविध कर्मो से संयोजित किए गए थे, तथा इस प्रकार वे असमान अवस्था में रखे गए थे।

श्रीपति की स्थिति सर्वेश्वरवादी तथा प्रत्ययवादी रूप से यथार्थवादी है। ऐसी स्थिति में, स्वाप्निक अनुभवों की अवस्था भ्रम मात्र नहीं हो सकती। शंकर ने तर्क किया था कि जीवन के अनुभव स्वप्नों के अनुभवों के समान भ्रमात्मक हैं। इसके उत्तर में श्रीपति इस विचार को महत्व देने का प्रयत्न करते हैं कि स्वप्न-अनुभव भी भ्रमात्मक नहीं वरन् यथार्थ है। वास्तव में यह सत्य है कि वे शक्ति के संकल्प के प्रयत्न से उत्पन्न नहीं हो सकते। परंतु फिर भी श्रीपति का विचार है कि उनकी सृष्टि ईश्वर द्वारा हुई है तथा इसका पुनः समर्थन इस तथ्य द्वारा हुआ है कि स्वप्न जीवन के पदार्थो से पूर्ण रूप से असंबंधित हो सो बात नहीं है क्योंकि हमें ज्ञात है कि वे प्रायः वास्तविक जीवन की शुभ व अशुभ वस्तुओं को इंगित करते हैं। इससे यह प्रदर्शित होता है कि किसी प्रकार स्वप्न हमारे जाग्रत अनुभवों के वास्तविक जीवन से परस्पर संबंधित हैं। पुनः, यह तथ्य शंकर के इस तर्क का भी खंडन कर देता है कि जागृत जीवन के अनुभव उतने ही भ्रमात्मक हैं जितने स्वप्नों के अनुभव हैं।

है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि वर्तमान लिंगायतों की विचार-धारा पूर्ण रूप से किसी बाहरी सामाजिक समुदाय का विचार है तथा इस वर्ण के विरुद्ध प्रवृत्ति का समर्थन कुछ ग्रंथकारों ने कुछ वीरशैव ग्रंथों का गलत निर्वचन करके उनसे करवाने का प्रयत्न भी किया है।[1] परंतु ब्रह्म-सूत्र ३-४ प्रथम प्रकरण, पर टीका करते हुए श्रीपति ईश्वर के ज्ञान तथा उसके प्रति भक्ति को दो स्वतंत्र मोक्ष मार्गों के रूप में समान महत्व देते हैं, यद्यपि वे इस विचार को अस्वीकार नहीं करते कि जब मनुष्य अपने समरूप फलों को ईश्वर को समर्पित करके वैदिक धर्मों का सम्पादन करता है तब वैदिक धर्मों का बुद्धि को स्वच्छ तथा शुद्ध करने में सहायक प्रभाव हो सकता है। किन्तु श्रीपति किसी ऐसे गृहस्थ के कर्म को दोषपूर्ण मानते हैं जो केवल अपनी व्यक्तिगत इच्छा के कारण वैदिक धर्मों को छोड़ देता है।

ब्रह्मसूत्र ३, ४, २ पर टीका करते हुए श्रीपति अनेक धर्म-ग्रंथों को यह प्रदर्शित करने के लिए उद्धृत करते हैं कि जीवन की अन्तिम अवस्था में भी वैदिक धर्म अनिवार्य है, जिससे कि जीवन की किसी भी अवस्था में यह धर्म ऐच्छिक न मान लिए जाए। इस सम्बन्ध में वे प्रसंगवश लिंगधारण की आवश्यकता भी प्रतिपादित करते हैं। यद्यपि वैदिक धर्म सामान्यतया सम्यक ज्ञान की प्राप्ति के साधन माने जाते हैं, तथापि वे उस गृहस्थ के लिए अनिवार्य नहीं है, जो नित्य तथा नैमित्तिक धर्मों का सम्पादन करता रहता है और उसके साथ अपने चिंतन तथा भक्ति द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार भी कर लेता है।

आवश्यक सद् गुण जैसे शम (आंतरिक नियंत्रण), दम (वाह्य-नियंत्रण,) तितिक्षा (सहनशीलता), उपरति (समस्त सांसारिक सुखों का अन्त), मुमुक्षत्व (मोक्ष के लिए तीव्र कामना) आदि सबके लिए अति आवश्यक है, तथा इस प्रकार जिन गृहस्थों में ये गुण हैं वे ईश्वर के साक्षात्कार की ओर अग्रसर होने की आशा कर सकते हैं। खतरे के समय जीवन की रक्षा के लिए समस्त आदेश व कर्त्तव्य स्थापित किए जा सकते हैं। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए बुद्धि को एकाग्र करने की क्रिया सहित विभिन्न सद्गुणों की आवश्यकता पर उपनिषदों ने भी बल दिया है। श्रीपति इंगित करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को इन गुणों के अनुसरण का तथा ब्रह्म विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। इसका सर्वोत्तम उपाय पाशुपत-योग के धर्म को स्वीकार कर लेना ही है।

शैव योगी के धर्म के अन्तर्गत निम्नलिखित हैं: ज्ञान, निवृत्ति, वासनाओं का आंतरिक व वाह्य नियंत्रण, अहंकार, अभिमान, समस्त व्यक्तियों से राग तथा वैर का अन्त। उसे वेदांती ग्रंथों के श्रवण, चिन्तन, योग-प्रक्रिया तथा इससे सम्बन्धित (जैसे ध्यान, धारण आदि के विषय में) विचार करने में एवं शिव के प्रति अगाध भक्ति में,

---

[1] देखिए प्रोफेसर साखरे की 'लिंगधारण चन्द्रिका' (भूमिका पृ० ६६६) तथा 'वीर-शैवानन्द-चन्द्रिका' (बादकांय अध्याय २४ पृ० ४४२)।

अपने को संलग्न रखना चाहिए। परन्तु यदि उसकी बुद्धि ने इन गुणों को प्राप्त कर भी लिया हो, तब भी उसे इन परम गुणों में से किसी को भी प्रकट अथवा प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। उसे एक शिशु के समान व्यवहार करना चाहिए जो शिव से पूर्णतया एक हो गए हैं, उन्हें वेदांती ग्रंथों के श्रवण में समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। ये केवल उन्हीं के लिए निर्धारित हैं जो पारंगत नहीं हो पाए हैं। जब एक मनुष्य इतना ऊपर उठ जाता है कि उसे वर्णाश्रम धर्म का पालन करने अथवा समाधि में प्रवेश करने की भी आवश्यकता नहीं रहती तब वह जीवनमुक्त कहलाता है। वह ऐसे मनुष्य के संकल्प पर निर्भर है कि वह अपने शरीर के साथ जीवन-मुक्तावस्था में प्रवेश करे अथवा शरीर रहित होकर। जब मनुष्य की बुद्धि शुद्ध हो जाती है तब वह भक्ति द्वारा शिव की अनुभूति में साक्षात्कार अन्तः प्रज्ञा से प्राप्त कर सकता है। यथार्थ ज्ञानी इस जीवन में भी मुक्त हो सकता है। शांकर वेदांत के विपरीत, श्रीपति ज्ञान के साथ भक्ति की आवश्यकता भी प्रतिपादित करते हैं। वे मानते हैं कि ज्ञान के उदय होने के साथ कर्मों के समस्त बन्धन नष्ट हो जाएँगे तथा मनुष्य फिर किसी कर्मबन्धन में लिप्त नहीं होगा।